सप्तशती-तत्त्व

श्रीदुर्गा सप्तशती का आध्यात्मिक रहस्य

प्रकाशक : परा-वाणी आध्यात्मिक शोध-संस्थान
श्रीचण्डी-धाम, अलोपी-देवी मार्ग, प्रयाग-२११००६

सप्तशती का महत्त्व

- **'सप्तशती'** साधक को **कर्म-योग** में प्रवृत्त करती है, अकर्मण्य नहीं रहने देती। **सुरथ** और **समाधि** की तपस्या से **उपासना की शिक्षा** मिलती है और **ब्रह्मा** की तथा अन्य **देवताओं की स्तुतियों** से अनेक स्वरूपों का बोध होता है। अन्ततः **'सप्तशती'** केवल मस्तिष्क की कसरत नहीं, किन्तु पूर्ण व्यवहार्य और इह तथा पर- दोनों लोकों में परम सहायिका एवं शान्ति-आनन्द देनेवाली है।
- **'सप्तशती'** के पाठ के सिद्ध होने के अपने कारण हैं। चिर-काल से इसका पाठ होता आ रहा है। अगणित सामान्य सादे पाठ हो चुके हैं; पुटित पाठों की भी गणना नहीं की जा सकती और सम्पुटित भी सहस्रशः हो चुके होंगे। इसलिए इन सभी पाठों की महा-सिद्धि कभी की हो चुकी है।
- जो **अनात्म-शक्तियाँ** हमें संसार में **जन्म-मरण** के चक्कर में डालने का प्रयत्न करती रहती हैं, उन पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जाए, इसका क्रम **सप्तशती** द्वारा पूर्णतः स्पष्ट होता है।
- **सप्तशती की कथा** की रहस्य-वादिता ज्ञानी एवं विवेकी पाठक के समक्ष जैसे-जैसे खुलती जाती है, वैसे- ही-वैसे साधक को **योग** द्वारा **आन्तरिक रहस्य** का भेद भी खुलता जाता है।
- **'सप्तशती' के सात सौ मन्त्र**, जो प्रत्यक्ष रूप में श्लोक, अर्धश्लोक तथा श्लोक के चतुर्थांश आदि रूप में दिखाई देते हैं, **विविध देवताओं के मन्त्र** और **वीजों** तथा **कूटाक्षरों** से गर्भित हैं। इस प्रकार **'सप्तशती'** के प्रत्येक अध्याय में सविशेष और निर्विशेष सभी मन्त्र गुप्त रीति से निहित हैं। अतएव **'सप्तशती'** सबसे श्रेष्ठ है।
- जिस प्रकार **श्रीमद-भगवद्-गीता** के विषय में कहा गया है कि जिसने **गीता** पढ़ ली, उसके लिए और सभी शास्त्र अप्रयोजनीय हैं, उसी प्रकार **'सप्तशती'** के सम्बन्ध में, आचार्यों का प्राचीन सिद्धान्त है कि जिसने **सप्तशती-तत्त्व** समझ लिया-उसके लिए सभी **तन्त्र** अप्रयोजनीय हैं।
- **'सप्तशती'- उपासना, कर्म-काण्ड** और **भक्ति-मार्ग** की त्रिविध पथ-गामिनी मन्दाकिनी है। यह जीवों के **सकल मनोरथ** पूर्ण करने में **कल्प-तरु** के सदृश है। यह **सद्यः फल देनेवाली है। धर्म, अर्थ, काम** एवं **मोक्ष**-चारों पदार्थ प्रदान करने की क्षमता इसमें है।

'चण्डी' : विशेष प्रस्तुति

सप्तशती-तत्त्व

श्रीदुर्गा-सप्तशती
की
दार्शनिक व्याख्या

आदि-सम्पादक
प्रातः-स्मरणीय 'कुल-भूषण' पं० रमादत्त शुक्ल
सम्पादक
ऋतशील शर्मा

*

प्रकाशक
पण्डित देवीदत्त शुक्ल स्मारक :
परा-वाणी आध्यात्मिक शोध-संस्थान
कल्याण मन्दिर प्रकाशन, श्रीचण्डी-धाम,
प्रयाग-राज-२११००६ ☎(०५३२)-२५०२७८३, ९४५०२२२७६७
चतुर्थ संस्करण : फाल्गुन पूर्णिमा, 'पराभव' संवत् २०७० वि०, १६ मार्च, २०१४
अनुदान ५०/-

☐ प्रकाशक :
कल्याण मन्दिर प्रकाशन
अलोपी-देवी मार्ग, प्रयाग-राज (उ०प्र०) - २११००६
दूर-भाष : ५०२७८३

सप्तशती का रहस्य

'श्रीदुर्गा-सप्त-शती' में सम्पूर्ण विश्व-विज्ञान का निचोड़ है। इसकी बराबरी करनेवाली दूसरी कोई पुस्तक नहीं है। इसके प्रत्येक श्लोक के चार भेद हैं—

☐ **प्रथम स्थूल कथा-लक्ष्य है।** यह साधारण **पाठ-रूप** से प्राप्त किया जाता है।

☐ **द्वितीय तान्त्रिक लक्ष्य है।** इसमें प्रत्येक श्लोक को एक **'मन्त्र'** माना गया है।

☐ **तृतीय यौगिक लक्ष्य है।** इसमें **'कुण्डलिनी-उत्थापन'** आदि सर्व-यौगिक साधनाओं के लिए प्रत्येक श्लोक का **'षट्-दल-चक्र'** में **जप** किया जाता है।

☐ **चतुर्थ अन्तर्लक्ष्य है।** इसमें आन्तरिक भाव से सम्बन्धित **'सांख्य शास्त्र'** का उपदेश है।

—गुप्तावतार बाबाश्री

☐ मुद्रक :
परावाणी प्रेस
अलोपी-देवी मार्ग
प्रयाग-राज (उ०प्र०) - २११००६

अनुक्रम

कल्याण मन्दिर प्रकाशन

अलोपी-देवी मार्ग, प्रयाग-राज (उ०प्र०) - २११००६

दो शब्द

'श्रीदुर्गा सप्तशती' ही एक-मात्र ऐसा आख्यान है, जिसका **'पाठ'** व्यापक रूप से विविध कामनाओं की पूर्ति के लिए आस्तिक लोग चिर काल से करते आ रहे हैं। **'शत'-चण्डी, 'सहस्र'-चण्डी, 'लक्ष'-चण्डी** आदि विख्यात अनुष्ठानों में इसी **सिद्धि-दायिनी सप्तशती का पाठ** होता आया है और आज भी होता दिखाई देता है। **'लक्ष्मी-तन्त्र'** में इस सम्बन्ध में लिखा है कि—

सम्यक् हृदि स्थिता सेयं, जन्म-कर्मावलि-स्तुतिः। एतां द्विज-मुखात् ज्ञात्वा, अधीयानो नरः सदा।।

विधूय निखिलां मायां, सम्यक् ज्ञानं समश्नुते। सर्व-सम्पद् आप्नोति, धुनोति सकलापदः।।

अर्थात् भगवती के आविर्भाव और उनके कर्मों से युक्त इस स्तव को द्विज के मुख से जानकर अपने हृदय में निष्ठा-पूर्वक धारण कर जो मनुष्य सदा इसका मनन करता है, वह माया-जाल को नष्ट कर सद्-ज्ञान को प्राप्त करता है और समस्त आपत्तियों को दूर कर सभी ऐश्वर्यों को पाता है।

ऐसी महत्त्व-पूर्ण **"श्रीदुर्गा सप्तशती" के ऐतिहासिक आख्यान की दार्शनिक व्याख्या** कितनी आवश्यक है, विशेषकर **ज्ञान-मार्ग** के साधकों के लिए, यह स्वतः स्पष्ट है। **'कर्म'** और **'भक्ति'**-मार्ग के पथिकों का उद्देश्य तो सामान्य अर्थ जानने मात्र से सिद्ध हो जाता है, किन्तु **'ज्ञान'**-मार्गी का बोध विशेष व्याख्या से ही सम्भव है।

प्रस्तुत व्याख्या मिथिला के विद्वान् साधक **'दरभङ्गा-राजवंश-सम्भूत' स्वर्गीय श्री श्यामानन्दनाथ** की लिखी हुई है। ४५ वर्ष पूर्व पहले-पहल **'चण्डी'**-मासिक पत्रिका के **१६वें वर्ष** में इसका प्रकाशन हुआ था और सप्तशती के भक्तों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। **'चण्डी'** के **३६ वें वर्ष** में इसका पुनः प्रकाशन हुआ। अलग से पुस्तक भी प्रकाशित हुई। पुस्तक समाप्त होने पर पुनः **'चण्डी'** के **५६वें वर्ष** में इसे प्रकाशित किया गया। **'चण्डी'** के **हीरक-जयन्ती-वर्ष** (२००१ ई०) में इसे पुनः पुस्तक-रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। हमें विश्वास है कि **पुस्तक-रूपी तृतीय संस्करण** द्वारा यह और भी अधिक लोक-प्रिय होगी और उपासक बन्धु इससे अधिकाधिक लाभ उठा सकेंगे।

प्रयाग-राज —**'कुल-भूषण'**

पौष, 'विजय' २०५७ वि०

जनवरी, २००१ ई०

(तृतीय संस्करण में प्रकाशित)

पूर्व-कथन

'श्रीदुर्गा-सप्तशती' केवल गाथा या कहानी नहीं है। इसमें उस महा-शक्ति का वर्णन है, जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं, स्थित होते हैं और लीन होते हैं। इसमें महा-शक्ति का वर्णन तो है ही साथ-ही-साथ उस महा-शक्ति के सम्वर्धन-क्रम का उपदेश भी है।

संक्षेप में, **'श्रीदुर्गा-सप्तशती'** का पाठ या श्रवण हम सभी के लिए अत्यन्त उपादेय व कल्याण-कारी है। यह एक ऐसा मन्त्र-मय आख्यान है, जिसका उपयोग विविध कामनाओं की पूर्ति के लिए लोग चिर काल से करते आ रहे हैं। **शत-चण्डी, सहस्र-चण्डी, लक्ष-चण्डी** आदि विख्यात अनुष्ठानों में इसी सिद्धि-दायिनी **'सप्तशती'** का पाठ होता है।

ऐसी महत्त्व-पूर्ण **'श्रीदुर्गा-सप्तशती'** के ऐतिहासिक कथानक की दार्शनिक व्याख्या हम सभी के लिए बहुत महत्त्व-पूर्ण है। यहाँ पाठकों की माँग पर **'चण्डी'** के प्रसिद्ध लेखक **'दरभङ्गा-राज-वंश-सम्भूत'** स्वर्गीय श्री श्यामानन्दनाथ द्वारा लिखित व्याख्या **'सप्तशती-तत्त्व'** का तीसरा संस्करण पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। यह नवीन प्रस्तुतिकरण (सचित्र) इस रूप में हो रहा है कि अधिक-से-अधिक बन्धु लाभान्वित हों।

यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि **'श्रीदुर्गा-सप्तशती'** की दार्शनिक व्याख्या का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि **'श्रीदुर्गा-सप्तशती'** का सम्पूर्ण कथानक 'काल्पनिक' है। **'श्रीदुर्गा-सप्तशती'** की ऐतिहासिकता हमारे लिए परीक्षण की वस्तु कदापि नहीं है। हम अपने स्थूल प्रमाणों से **'सप्तशती'** की ऐतिहासिकता को जाँच ही नहीं सकते। **'सप्तशती'** की ऐतिहासिकता स्वतः सिद्ध है। लाखों वर्षों से इसका पठन-पाठन होता आ रहा है और आज भी हो रहा है। मुख्य बात यह है कि वर्तमान के सन्दर्भ में हम इससे कितना अधिक लाभ उठा सकते हैं? निश्चय ही, यह लाभ एक-पक्षीय नहीं होना चाहिए। **'ज्ञान-भक्ति-कर्म'** तीनों लाभ होने चाहिए। अतः इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही प्रस्तुत व्याख्या से लाभ उठाना चाहिए। — सम्पादक

मार्कण्डेय

'श्रीदुर्गा-सप्तशती' — अर्थात् **'देवी-माहात्म्य'** महा-मुनि मार्कण्डेय जैमिनि ऋषि से कहते हैं। **'मार्कण्डेय'** - शब्द से आशय है उस तपस्वी से, जो मृत्यु को अपने अधीन कर रखते हैं। **'मृकण्डु'** से **'मार्कण्डेय'** - पद बना है। **'मृकण्डु'** का अर्थ है — **'मृत्यु-जयी'** अर्थात् मृत्यु को जीतनेवाला।

ठीक ही है। जो व्यक्ति, **'सप्त-चक्र'** के अन्तिम **'व्योम-चक्र'** में **'प्राण महा-शक्ति'** का सम्वर्धन कर लेता है, वह **'मृत्यु-जयी'** हो जाता है। ऐसा व्यक्ति भौतिक जगत् में किसी भी उद्देश्य से जब तक चाहे रह सकता है और अन्त में, उद्देश्य के पूरा हो जाने पर वह **'सम-वलय'** नामक **'महा-निर्वाण'** प्राप्त कर सकता है।

महा-मुनि **मार्कण्डेय** एक ऐसे ही गुरु थे, जिन्होंने मृत्यु को जीत लिया था। उनके शिष्य **क्रोष्टुक मुनि** ने उनसे सर्व-प्रथम **'श्रीदुर्गा'** अर्थात् **'प्राण महा-शक्ति'** का माहात्म्य पूछा था।

क्रोष्टुक मुनि

क्रोष्टुक मुनि सच्चे शिष्य या जिज्ञासु थे। **'क्रोष्ट'** - शब्द का अर्थ है आर्त्त होकर रोनेवाला — **'क्रुश** रोदक + **तुन्'**। आर्त्त होकर रोनेवाला व्यक्ति ही **'शरणागति'** का महत्त्व जानता है। सिद्धि की कुञ्जी है — **'शरणागति'**।

यहाँ **'शरणागति'** से तात्पर्य **'अनन्य शरणागति'** से है। **'गीता'** में भी जहाँ-जहाँ **'शरणागति'** का उल्लेख है, वहाँ उससे **'अनन्य शरणागति'** का ही अर्थ है। **'पार्थ'** अर्थात् सब प्रकार से योग्य शिष्य अर्जुन को अनेक प्रकार के साधनों का क्रम बतलाकर अन्तिम सार — **'सर्व-धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** बताया है।

अतः **मृत्यु-जयी तपस्वी मार्कण्डेय गुरु** के पास **शिष्य क्रोष्टुक** पूर्णतया जिज्ञासु बनकर जाते हैं और अपने समस्त ज्ञान को एक तरफ रखकर उनसे श्रीदुर्गा अर्थात् कौशिकी अर्थात् **'प्राण महा-शक्ति'** का माहात्म्य पूछते हैं।

जैमिनि और पञ्च-हंस

महा-मुनि मार्कण्डेय ने श्री दुर्गा अर्थात् **प्राण महा-शक्ति का माहात्म्य** जानने के लिए **मीमांसाकार जैमिनि मुनि** को विन्ध्य पर्वत पर भेजा था और जैमिनि मुनि को वहाँ **पञ्च-हंस** ने उक्त महात्म्य बताया था। यह **'पञ्च-हंस'** कोई पक्षी नहीं था। पक्षी मनुष्य के सदृश बोल ही नहीं सकता और सिखाने पर यदि बोल भी ले, तो उच्च दार्शनिक कथा नहीं कह सकता। अतएव यहाँ वाच्यार्थ न लेकर रहस्यार्थ लेना चाहिए।

'विन्ध्य' - शब्द से विशेष प्रकार से दित या प्रकाशित स्थान का अर्थ है। यह स्थान हम मनुष्यों के शरीर में भी है। साधारणतया इन स्थानों का हमको बोध नहीं होता, किन्तु जो साधक हैं, उनको इसका बोध होता है। हमारे शास्त्रों में ऐसा स्पष्ट उल्लेख है।

अनुभवी ऋषियों ने **'विन्ध्य'** का अर्थ कहा है — **हृदय का ऊर्ध्वांश** अर्थात् उपादेय भाग। इसी स्थान पर, विशुद्ध हृदय में मीमांसाकार जैमिनि को पञ्च-हंस से उपदेश प्राप्त हुआ था।

'पञ्च-हंस' — **'पञ्च-तन्मात्रा'** या **'पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय'** का संवर्धित रूप है। तात्पर्य यह है कि मीमांसाकार जैमिनि का हृदय जब विशुद्ध हो गया, तब उनकी पाँचों तन्मात्राओं ने, जो संवर्धित हो चुकी थीं, उनको **'श्रीदुर्गा'** अर्थात् **प्राण महा-शक्ति का माहात्म्य** बताया।

हृदय और पञ्च-तन्मात्राएँ हम सभी मनुष्यों में भी हैं, परन्तु एक तो हमारा हृदय अशुद्ध है और दूसरे हमारी तन्मात्राएँ दुर्बल हैं, जिससे हमें **प्राण महा-शक्ति का माहात्म्य** ज्ञात नहीं हो पाता।

सूर्य, सावर्णि और अष्टम मनु

अस्तु! क्रोष्टुक से मार्कण्डेय कहते हैं — **'हे निशा-मय! सूर्य का बालक 'सावर्णि' किस प्रकार आठवाँ मनु हुआ, वह विस्तार-पूर्वक** (मुझसे) **सुनो।'** यहाँ **'क्रोष्टुक'** को **'निशा-मय'** अर्थात् ज्योति या ज्ञान-हीन क्यों कहा है? आखिर वे भी तो एक मुनि थे! वस्तुतः **'क्रोष्टुक'** विशिष्ट ज्ञान से रहित होने के कारण ही मार्कण्डेय के यहाँ गए थे। इस दृष्टि से उन्हें **'निशा-मय'** अर्थात अज्ञानता से पूर्ण या **'ज्ञान-हीन'** कहा गया है, जो ठीक ही है। **'निशामय'** - पद का क्रिया-वाचक-रूप और भी सुन्दर है — 'नि = **निःशेष-पूर्वक + शामय = शम् आलोचने** अर्थात् निःशेष-पूर्वक सुनो।

अब **'सूर्य'**, **'सावर्णि'** और **'अष्टम मनु'** से क्या तात्पर्य है, यह देखना है —

'सूर्य' — इस पद से दृश्यमान् भौतिक सूर्य का तात्पर्य नहीं है। जिस **'सूर्य'** को हम देखते हैं, वह जीव नहीं है, जो उसके मनुष्य या अन्य जीवों के समान औरस, अण्डज आदि प्रकार के बच्चे हों। **'सूर्य'** तो **'पृथ्वी'** - जैसा एक ग्रह ही है। जिस प्रकार **'पृथ्वी'** अण्डे-बच्चे नहीं देती, उसी प्रकार **'सूर्य'** भी है। अतएव **'सूर्य के बालक'** का अर्थ रहस्य-मय है। यहाँ **'सूर्य'** से सूक्ष्म-रूप में **'प्राण-शक्ति'** या **'प्रकाश-शक्ति'** का बोध है। यह महा-मूला **'प्राण-शक्ति'** अपनी भिन्न-भिन्न लक्षणाओं पर भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से जानी जाती है। यथा — १ **'सूर्य'** — **'मानत्वात् सूर्य'** अर्थात् जो शत्रु का नाश करे, वह **'सूर्य'** है। २ **'सविता'** — **'सृजनत्वात्'** अर्थात् जिससे सभी वस्तुओं की सृष्टि हो वही 'सविता' है। ३ **'रवि'** — **'रवत्वात्'** अर्थात् जो सर्वदा **'रव'** या **'शब्द'** करता रहे, वही **'रवि'** है। इस प्रकार **महा-मूला 'प्राण-शक्ति'** — **'सूर्य'** के कई नाम हैं।

'सूर्य' - रूपी **'प्रकाश-शक्ति'** की **'सवर्णा-शक्ति'** से, जिसे वेदों में **'सरण्यू'** कहा गया है, **'आठवें मनु'** की उत्पत्ति होती है। यह सवर्णा की छाया या प्रतिबिम्बिका (आभासिका) शक्ति है। इसी अर्थ में इसे **'सावर्णि'** कहते हैं। संक्षेप में, जिस भाग्यवान् पर मूल **'प्रकाश-शक्ति'** की छाया पर्याप्त मात्रा में पड़ती है, वही **'आठवाँ मनु'** — **'सावर्णि'** है।

'मनु' ; वैसे तो प्रत्येक जीव मनन-शील है, परन्तु पूर्ण मनन-शील जीव को **'मनु'** कहते हैं। **'मुनि'** का भी यही अर्थ है; किन्तु सभी मुनि या मनन-कर्त्ता **'मनु'** नहीं कहे जा सकते। शास्त्रों में

'प्रजापति' के मानस-पुत्रों को **'मनु'** कहा गया है। **'प्रजापति'** से **'ब्रह्मा'** और **'सूर्य'** दोनों अर्थ हैं, क्योंकि **'ब्रह्मा'** जहाँ मन से सृष्टि करते हैं, वहाँ **'सूर्य'** अपनी रश्मि से। सृष्टि का यह सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान द्वारा भी अनुमोदित है। रही बात, मानव-जाति के आदि-पुरुष **'मनु'** की, तो यह भी केवल हमारे शास्त्रों की बात नहीं है। अन्य देशों में भी मानव-जाति का इतिहास **'मनु'** से ही प्रारम्भ होता है। यथा, मिश्र में **'मेन्स'** या **'म्ना'**, क्रीट देश में **'माइनास'**, लीडिआ में **'मेन्स'**, फ्रेजिया में **'मेनिस'** और जर्मनी में **'मेन्नस'** से मानव जाति का प्रारम्भ माना गया है।

अतएव, जिस व्यक्ति पर पूर्णतः चिदाभास होता है, वही **'अष्टम मनु'** है। **'अष्टम'-पद** के भी कई अर्थ हैं। **'अष्टौ परिमन् स अष्टमः'** अर्थात् अष्ट-गुण-सम्पन्न ही अष्टम है। यह **'अष्ट-गुण'** 'क्रिया-योग-क्रम' में **'अणिमा'** आदि **अष्ट-सिद्धियों** का और 'ज्ञान-योग-क्रम' में **१ विवेक, २ वैराग्य, ३ शम, ४ दम, ५ उप-रति, ६ तितिक्षा, ७ श्रद्धा** और **८ समाधान** का बोधक है। अथवा, **१ अहिंसा, २ सत्य, ३ दया, ४ त्याग, ५ समता, ६ दान, ७ परोपकार** और **८ निरहङ्कार** — इन अष्ट-गुणों का बोधक **'अष्टम'** है। **'तन्त्र-शास्त्र'** में **'अष्टम'**, आठ पाशों अर्थात् **१ घृणा, २ शङ्का, ३ भय, ४ लज्जा, ५ जुगुप्सा, ६ कुल, ७ शील, ८ जाति** से मुक्ति पानेवाले का बोध होता है।

इस प्रकार, महर्षि मार्कण्डेय कहते हैं कि उक्त **'अष्ट-सिद्धि'** को प्राप्त करने का एक-मात्र उपाय है **भगवती 'महा-माया' की अनुकम्पा!** अब ये **'महा-माया'** कौन हैं? यह देखना है।

महा-माया कौन हैं?

महर्षि मार्कण्डेय के अनुसार महा-शक्ति के दो रूप हैं – (१) **चित्-शक्ति** और (२) **माया-शक्ति**। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि **'माया'**-वाद **'शाङ्कर वेदान्त'** में भी है और **'शाक्त-वेदान्त'** में भी, परन्तु दोनों की परिभाषाओं में भेद है। **'शाङ्कर माया-वाद'** जहाँ **'माया'** को **'मिथ्या-भूता सनातनी'** कहता है, वहाँ **'शाक्त-वेदान्त' 'माया'** को **'चित्-शक्ति'** का अपर-रूप समझता है। दूसरे शब्दों में, **'शाङ्कर माया-वादी'** माया को **'मति परिच्छिन्नति इति माया'** कहकर ब्रह्म, सत्य, शिव और सुन्दर को ढँक देनेवाली कहते हैं। किन्तु, **'शाक्त'** माया को **'मीयते अनया इति माया'** के आधार पर इसे **'ब्रह्म-ज्ञान-दात्री'** कहते हैं।

वास्तव में, एक ही वस्तु का एक रूप **'सत्य'** और दूसरा **'असत्य'** कैसे हो सकता है? यदि अपरिवर्तन-शील **'ब्रह्म'** या **'चित्-शक्ति'** सत्य है, तो इसी का अपर रूप परिवर्त्तन-शील **'माया'** भी सत्य ही है। यदि हम **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** मानते हैं, तो फिर **'ब्रह्म'** और **'माया'** में हमें अभेद मानना ही होगा। **'शाङ्कर वेदान्त'** ने **'माया'** का **निरूपण** न कर, **'माया'** को न सत्य है और न असत्य कहा है। यह तर्क भी ठीक नहीं है। शक्तिमान् से शक्ति भिन्न नहीं है— **'शक्ति-शक्तिमतोरभेदः'**। भगवान् श्रीकृष्ण का भी यही सिद्धान्त है कि मैं अविनाशी या परिवर्तन-शील भी हूँ और मृत्यु, विनाशी या परिवर्तन-शील भी। अर्थात् सत् भी हूँ और असत् भी– **'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाह मर्जुन।'** (गीता, ६/१६)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वास्तव में शङ्कर का निर्गुण, निष्कल **'ब्रह्म'** ही **'माया'** है, जब वह सगुण, सकल होता है। कुछ लोगों को यह बात तर्क के विरुद्ध दिखाई दे सकती है, किन्तु यह स्पष्ट विरोधी बात तर्क से सर्वथा विरुद्ध है। इसी से **'वह'** अप्रतर्क्य या तर्क से परे कहा गया है। **'तन्त्रों'** में **'उसका'** स्वरूप **'विरुद्ध-वाक्यार्थ-शरीर-मण्डला'** कहा गया है क्योंकि तर्क की पहुँच वहाँ तक है ही नहीं। इसीलिए यह भी कहा गया है कि तर्क से **'उसको'** या 'उसके स्वरूप को' दूषित नहीं करना चाहिए। तर्क से हम **'उसे'** या **'उसके स्वरूप को'** जान ही नहीं सकते। तर्क के बाद बात **'अनुभूति'** की होती है, इससे भी हम **'उसे'** पूर्णतया नहीं जान सकते। इसी से 'गीता' आदि शास्त्रों में कहा गया है कि **'उसको'** पूर्णतया कोई भी नहीं जान सकता। एक-मात्र **'वही'** अपने को जानता है।

ऐसे में प्रश्न होता है कि तब हम क्या करें? कारण, जानना तो हम सभी चाहते हैं। इसके लिए हमारे यहाँ यह कहा गया है कि **'उसके'** देखनेवाले **'उसको'** जहाँ तक वा जिस रूप में देख सके हैं, अपनी-अपनी **'अनुभूति'** के अनुसार कह गए हैं। हम अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार **'उसको'** जानकर अपना जीवन सफल कर सकते हैं।

'उसको' जानने के क्रम में ही मार्कण्डेय ऋषि कहते हैं कि भगवती **'महा-माया'** स्वतन्त्र हैं। इन्हीं के अनुभव से हमें **'मनुत्व'** प्राप्त होता है। वे अचिन्त्य शक्ति-रूपिणी हैं, तभी इन्हें **'दुर्गा'** या **'दुर्विज्ञेया'** कहा जाता है। ये **'सर्व-भाव-रहिता'** भी हैं और **'सर्व-भाव-सम्पन्ना'** भी हैं, यही इनका **'विरुद्ध-वाक्यार्थ-शरीरिणी'** स्वभाव है। इस स्वभाव के अनुभव या अनु-चिन्तन से ही ये प्रसन्न होती हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि **'प्रसन्न'** - शब्द का जो अर्थ साधारणतया हम लेते हैं, वह अर्थ **'अध्यात्म-योग'** में नहीं होता। **'अध्यात्म-योग'** में **'प्रसन्न'**- शब्द का अर्थ है **'तादात्म्य'**। **'प्रसन्न'** – **'प्र + सद् - आगमने + क्त'** का अर्थ है, प्रकृष्ट रूप से आया या ज्ञात हुआ। इसी को **'तादात्म्य'** कहते हैं। **'तादात्म्य'** होने पर भगवती महा-माया प्रसन्न होती हैं। ज्ञानी जीव **'तादात्म्य'** होने के अनुभव को किस प्रकार प्राप्त करते हैं, इसी के सम्बन्ध में **'सप्त-शती'** में महर्षि मार्कण्डेय कहते हैं – पूर्व-काल में स्वारोचिष मन्वन्तर में चैत्र - वंशीय सुरथ समस्त पृथ्वी - मण्डल के अधिपति थे। वे अपनी प्रजा का पालन अपने पुत्र के समान करते थे। फिर भी, उनके अधीनस्थ लोगों ने उनसे शत्रुता कर ली और वे उनकी राजधानी **'कोलापुर'** के विध्वंसी हो गए।

जब युद्ध हुआ, तो उक्त अधीनस्थ लोगों ने राजा सुरथ को हरा दिया। राजा सुरथ अपने नगर और उसके आस-पास के अञ्चल-मात्र के अधिपति रह गए। राजा सुरथ का पराभव यहीं तक सीमित न रहा। एक तरफ उनके ही लोगों ने नगर पर आक्रमण किया, तो दूसरी तरफ उनके विश्वास - पात्र मन्त्रियों ने विश्वास - घात कर उनके **'राज-कोष'** को लूट कर उन्हें असमर्थ बना दिया। निरुपाय होकर राजा सुरथ मृगया (शिकार) के बहाने घोड़े पर चढ़ जङ्गल चले गए। वहाँ **मेधा ऋषि का आश्रम** था, जो शिष्यों से शोभित था। ऋषि का आश्रम प्रशान्त जन्तुओं से भरा हुआ था। जो जन्तु अहिंसक थे; उनका कहना क्या, हिंसक जन्तु भी वहाँ पूर्णतः अहिंसक थे! मेधा मुनि का आश्रम पर विलक्षण प्रभाव था।

राजा सुरथ यद्यपि मुनि द्वारा आदर- सत्कार पाकर निश्चिन्त थे, फिर भी उनके मन में यह चिन्ता बार-बार तरङ्गित होती थी कि मेरे बाप-दादाओं के राज्य का पालन असद् - वृत्तिवाले मेरे शत्रु-वर्ग अवश्य ही उचित प्रकार से नहीं करते होंगे। हमारे परिजन, जिनको मैं नित्य भोजन - दान, वस्त्र-दान, धन-दान आदि से परितुष्ट रखता था, किस प्रकार अब दिन बिताते होंगे? मेरी मितव्ययिता से सञ्चित **'राज-कोष'** का अमित - व्ययी शत्रु के हाथों में पड़ने से अत्यन्त ह्रास हुआ होगा! आदि-आदि।

तभी, राजा सुरथ की भेंट वहाँ उपस्थित एक वैश्य से हुई। यह वैश्य भी संसार से दुःखी होकर वहाँ आया था। उसने अपना परिचय देते हुए राजा से कहा – "मेरा जन्म धनिक वैश्य - कुल में हुआ है। मेरा नाम समाधि है। परिवारवाले स्त्री - पुत्रों ने धन के लोभ में पड़कर मुझे जब घर से बहिष्कृत कर दिया, तो मेरे इष्ट - मित्रों ने भी मुझे आश्रय नहीं दिया। इसी से विरक्त हो मैं यहाँ जङ्गल चला आया पर मुझे यहाँ भी शान्ति नहीं है। मैं सर्वदा उन्हीं के सम्बन्ध में, जिन्होंने मेरे साथ ऐसा असद् - व्यवहार किया है, चिन्ता से उद्विग्न रहता हूँ कि वे कैसे हैं? जब मैं जानता हूँ कि उन्होंने मुझ से सम्बन्ध - विच्छेद कर लिया है, तब उन पर मेरी ममता कैसी? **'मन'** नहीं मानता, अपकारी कुटुम्ब-वर्ग के प्रति वह उदासीन नहीं होने देता। इसी उधेड़-बुन में हूँ।"

यह सुनकर राजा सुरथ समाधि को लेकर इस समस्या के समाधान के लिए मेधा ऋषि के पास गए। मेधा ऋषि के पूछने पर राजा सुरथ ने सब हाल कहा – "भगवन्! हम दोनों क्रमशः राज्य-भ्रष्ट और गृह-भ्रष्ट हैं। इसका कारण भी जानता हूँ। ज्ञान तो है ही, फिर क्यों न जानूँ? फिर भी दुःखी हो रहा हूँ। इस आश्चर्य-मय समस्या का समाधान कर दें।"
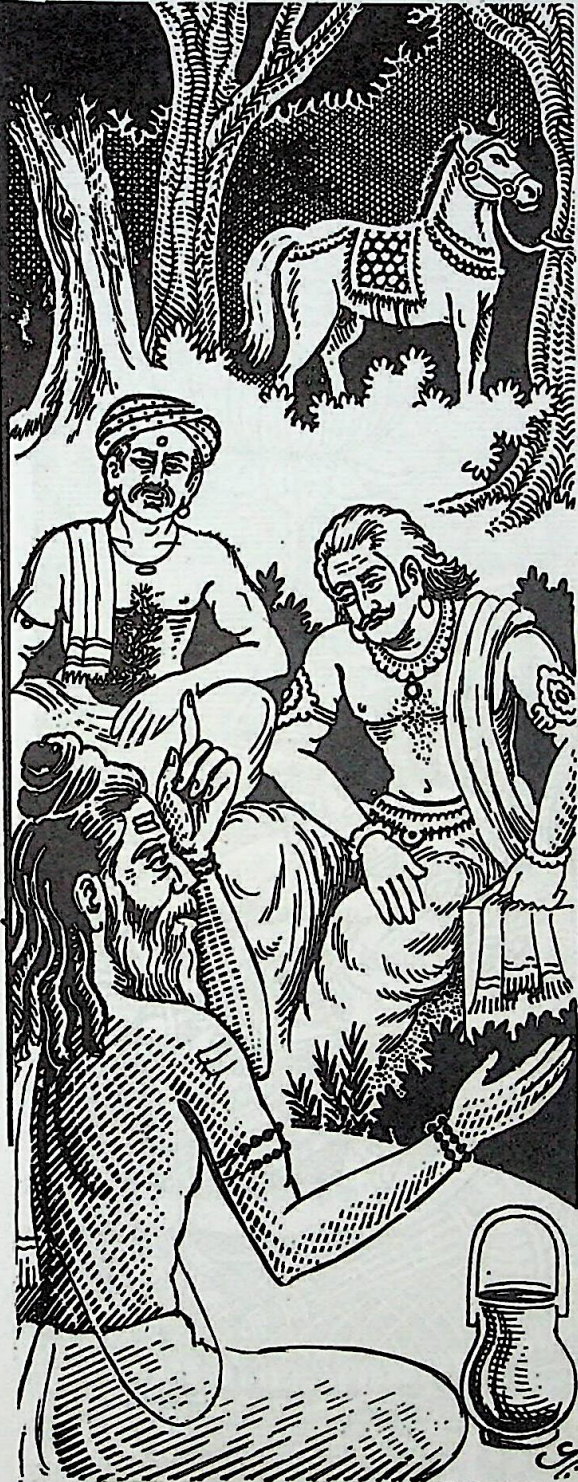
राजा सुरथ की उक्त बात सुनकर मेधा ऋषि हँसे और बोले – ''हे सुरथ! ज्ञान तो सब जीवों को है। एक-एक विषय का या कतिपय विषय - राशि का। जैसे कोई जीव दिन में देख सकता है, पर रात में नहीं ! फिर कोई जीव रात में ही देख सकते हैं, दिन में नहीं ! इसी प्रकार किसी जीव को एक विशिष्ट विषय का ज्ञान है, पर और का नहीं ! इससे यह नहीं कह सकते कि सभी जीव ज्ञानी हैं। मानव जीव की क्या कथा, पशु- पक्षी और वनस्पति को भी खाने-पीने, सोने इत्यादि का ज्ञान है। पर इससे क्या वे ज्ञानी हो गए? मानव जाति को यह झूठा घमण्ड है कि वह ज्ञानी है। देखा जाए, तो कहीं-कहीं मानव - जाति से अधिक ज्ञानी पशु - जाति और पक्षी - जाति है। देखो, मानव-जाति स्वार्थ - वश अथवा प्रति - उपकार की आशा से अपने बच्चों का लालन-पालन करती है, पर पशु या पक्षी ऐसा नहीं करते। हम आज बच्चों को पालेंगे, तो वे भी हमारी वृद्धावस्था में हमारा पालन-पोषण करेंगे, ऐसा भाव उनमें नहीं रहता। ऐसी स्थिति में बताइए, कौन कर्त्तव्य-परायण या ज्ञानी हुआ? ज्ञानी या विवेक - बुद्धि - सम्पन्न होने की तुम्हारी धारणा पूर्णतः भ्रान्ति है। इन्द्रिय - विषयक ज्ञान से कोई ज्ञानी नहीं हो सकता। आप कहेंगे कि सब मनुष्य नहीं, तो जो योगी हैं, वे तो ज्ञानी हैं? पर नहीं, वे जन - साधारण से अधिक ज्ञानी हो सकते हैं, किन्तु प्रबुद्ध या प्रकृत ज्ञानी नहीं कहे जा सकते। भगवती **'महा-माया'** ऐसे अच्छे - अच्छे ज्ञानियों को भी मोह - गर्त्त में ममता के जाल में बाँधकर गिरा देती है।''

उक्त आश्चर्य - जनक तथ्य को सुनकर राजा सुरथ और वैश्य समाधि ने मेधा ऋषि से पुनः पूछा कि ''भगवन्! यह **'महा-माया'** देवी कौन हैं, क्या हैं, किस प्रकार उत्पन्न हुई हैं और इनका स्वरूप तथा स्वभाव क्या है?''

इसके उत्तर में मेधा ऋषि कहते हैं – यह **'महा-माया'** विश्व - रूप में नित्य रहकर विश्व को व्याप्त कर रहती है, परन्तु जन - साधारण की यही धारणा है कि देव - गणों की कार्य - सिद्धि अर्थात् धर्म के संस्थापन के लिए विशेष - विशेष अवसरों पर विशेष - विशेष रूपों में आविर्भाव लेती है। उदाहरण - स्वरूप एक का इतिहास सुनाता हूँ। सुनो-

कल्पान्त होने पर जब सृष्टि एकार्णवा थी; भगवान् विष्णु शेष-नाग की शय्या पर **'योग-निद्रा'** में अभिभूत हो रहे थे। उसी समय उनके **'कर्ण-मल'** से **'मधु'** और **'कैटभ'** - संज्ञक दो असुर उत्पन्न हुए। दोनों अत्यधिक पराक्रमी होने के कारण मदोन्मत्त थे। वे अपने अतुल पराक्रम का परिचय देना चाहते थे, पर वहाँ सिवा ब्रह्मा जी के, जो भगवान् विष्णु के नाभि-कमल पर अवस्थित थे और कोई था नहीं। बस, वे ब्रह्मा जी पर चढ़ दौड़े, ये विचारे थे असमर्थ। रहे विष्णु, वे भी **'योग-निद्रा'** के वश में अकर्मण्य हो रहे थे। रक्षा का एक ही उपाय था कि विष्णु महाराज जगें और इन दुष्ट-द्वय का संहार करें। अतएव ब्रह्मा जी **'योग-निद्रा भगवती'** का स्तवन करने लगे –

'विश्व की स्वामिनी, जगतों की धात्री, स्थित रखनेवाली और लय करनेवाली अतुल तेजोवती विष्णु की शक्ति का स्तवन करता हूँ – **हे महा-माये!** तू स्वाहा, तू स्वधा, तू वषट्-कार और तू ही स्वरात्मिका है। तू ही सुधा, तू ही अक्षरा वा अविनाशी, नित्या है। तू ही प्रणव की तीनों मात्रा **'अ'**-कार, **'उ'**-कार और **'म'**-कार- स्वरूपा है। तू ही **'अर्ध-मात्रा'** है, जिसका उच्चारण विशेष प्रकार से होता है। तू ही **'वह'** है, तू ही सावित्री, तू ही परा जननी है। तू ही विश्व की स्थिति रखनेवाली है। तुझसे ही विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय

होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि इन तीनों के कर्तृत्व में तुम्हारे तीन रूप होते हैं। तू ही महा वा परा- विद्या है, तो तू ही महा-अविद्या है। तू ही महा-मेधा अर्थात् बुद्धि-शक्ति है, तो तू ही महा-स्मृति अर्थात् स्मरण-शक्ति है। तू ही महा-मोहा अर्थात् भुलाने - वाली महा-शक्ति है, तो तू ही महा-भ्रान्ति भी है। तू ही महा-देवी है, तो तू ही महा-आसुरी वा समस्त आसुरी सर्गों की पुञ्जा-स्वरूपा भी है। तू जगत् के त्रिगुण की विभाविनी **'प्रकृति'** - रूपा है। तू ही (रात्रि में प्रधान) काल-रात्रि, महा-रात्रि, मोह-रात्रि एवं दारुण-रात्रि-स्वरूपा है। तू ही श्री, ह्री, ईश्वरी, बोध करानेवाली बुद्धि है। पुनः तू हीं लज्जा - शक्ति, पुष्टि - शक्ति, तुष्टि - शक्ति तथा शान्ति, क्षान्ति शक्ति-द्वय है। तेरे आयुध हैं **खड्ग, शूल, गदा, चक्र, शङ्ख, धनुष-बाण, भुशुण्डी** तथा **परिघ।** तू सामान्य सौम्य-रूपा है। वरन् सबसे अधिक और अशेष सौम्य परा - सुन्दरी है। तू ही सर्व-श्रेष्ठा ब्रह्मा, विष्णु और महेश की परमेश्वरी है। कितना कहा जाए? जगत् के सत् वा अपरिवर्तन - शील पदार्थ-समूह एवं असत् वा परिवर्त्तन-शील पदार्थ-समूह की कारण-शक्ति तू ही है। ऐसी परिस्थिति में तेरी स्तुति करना हास्यास्पद नहीं, तो क्या है? लोग समझते हैं कि विष्णु ही सृष्टि, स्थिति और लय-कर्त्ता हैं, पर वे भी तो तेरी **'योग-माया'** के कारण निद्रा में अभिभूत पूर्ण निष्क्रिय हो रहे हैं, ऐसी प्रभाव - शालिनी की स्तुति कैसे हो? इतना ही नहीं, हम तीनों तो तुझसे ही उत्पन्न हैं, फिर क्या समझ कर स्तुति करूँ? तात्पर्य कि चूँकि कार्य को कारण का पूर्ण ज्ञान नहीं होता, कार्य कारण का बखान कर ही नहीं सकता। अतएव तुझसे यही इतनी प्रार्थना है कि इस आसुरी सर्ग-द्वय **'मधु'** और **'कैटभ'** को मुग्ध अर्थात् जड़-वत् कर सोते हुए जगन्नाथ विष्णु को जाग्रत करो, ताकि दोनों का नाश हो।'

ऐसी स्तुति करने का यह फल हुआ कि तामसी अर्थात् तमो-गुण की उत्पादन करनेवाली भगवती **'महा-माया'** अपनी **'योग-माया'** की शक्ति को विष्णु के नेत्र, मुख, नाक और हृदय से हटाकर ब्रह्मा के नेत्र - द्वय पर जा अवस्थित हुई। फिर क्या था! जगन्नाथ जनार्दन एकार्णवासन से उठ बैठे। उन्होंने क्रोधाक्त – रक्त नेत्र - वाले दोनों असुरों को ब्रह्मा जी को दबोचने को तैयार खड़े देखा। अतः फुर्ती से खड़े हो वे उन दोनों से बाहु - युद्ध करने लगे। यह युद्ध पाँच हजार वर्ष तक होता रहा! दोनों वा तीनों समान-बली थे। अतएव कोई विजयी नहीं हुआ। अन्त में **'महा-माया'** की प्रेरणा से असुर-द्वय जोश में आकर बड़े गौरव से विष्णु से कह बैठे – "तुम भी वीर हो। तुम्हारी वीरता से प्रसन्न होकर हम तुमको मन - चाहा वर देना चाहते हैं। अब बोलो, क्या चाहते हो?"

इस पर **विष्णु** ने कहा कि— **"मेरे द्वारा तुम दोनों का नाश हो, यही वर माँगता हूँ।"** **मधु-कैटभ** बोले— 'जहाँ पृथ्वी जल से मग्न न हो, वहीं हमें मारो।' **महा-माया की कृपा** से **विष्णु** को झट उपाय सूझा, उन्होंने उन दोनों के मुण्ड को अपने जङ्घे पर रख **चक्र** से काट डाला।

'मधु-कैटभ-बध' में त्रि-शक्ति-मयी महा-माया का **'रहस्य-मय आविर्भाव'** होता है। इसे **'स्फुरण-आविर्भाव'** भी कहते हैं। **'रहस्य-मय आविर्भाव'** अथवा **'स्फुरण-आविर्भाव'** ज्ञान या बुद्धि-शक्ति में होते हैं। प्रकारान्तर में इसको **'इच्छा'-शक्ति** का आविर्भाव भी कह सकते हैं। शास्त्रों में इस सम्वन्ध में मत-भेद है, अतः निर्णय कठिन है। **'मधु-कैटम-वध'** में महा-माया के प्रत्यक्ष रूप का आविर्भाव नहीं है। इसके बाद के दोनों आविर्भावों की कथा (**'महिषासुर-बध'** एवं **'शुम्भ-निशुम्भ-बध'**) जो **'श्रीदुर्गा-सप्तशती'** के क्रमशः **'मध्यम चरित'** में और **'उत्तम चरित'** में कही गई है, महा-माया के प्रत्यक्ष रूप की कथाएँ हैं। इस प्रकार **'यौगिक लक्ष्य'** से **'प्रथम आविर्भाव'** (प्रथम चरित) **'भक्ति-योग'** का फल है, **'दूसरा आविर्भाव'** (मध्यम चरित) **'क्रिया-योग'**, **'हठ-योग'** का फल है और **'तीसरा आविर्भाव'** (उत्तम चरित) **'ज्ञान-योग'**, **'राज-योग'** का फल है।

'मधु-कैटम-बध' — लीला के पठन और श्रवण से देवी अर्थात् लीला-मयी प्रकाश-शक्ति की एकाङ्गी महिमा का ज्ञान होता है। यह ज्ञान **'साधना'** की भूमिका मात्र है। 'श्रुति' कहती है— **'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** अर्थात् सुनो, सोचो और साधन करो। सुनना और सोचना— दोनों ही व्यर्थ हैं, यदि उनके अनुसार क्रिया या साधना न करें। इस सिद्धान्त के अनुसार **'देवी-माहात्म्य'** का पाठ मात्र करें, यह उचित नहीं। सुनकर या पढ़कर **'मनन'** करना चाहिए।

दुःख की बात है कि आज इस ओर बहुत कम लोगों का ध्यान है। जानकार लोग भी यह समझ कर कि दार्शनिक अर्थ के ज्ञान से जन-साधारण में भक्ति नहीं रहेगी, वे रहस्यार्थ को प्रकट नहीं करते। कुछ सीमा तक उनकी आशङ्का निर्मूल नहीं है। **अकृतोपासक** को **'ज्ञान-काण्ड'** की बात बताने से उसकी भक्ति की मात्रा का ह्रास होता है। सर्व-साधारण को, जिनमें अकृतोपासकों की संख्या अधिक है, यदि यह बताया जाए कि तुममें ही **'विष्णु'** और **'ब्रह्मा'** हैं तथा **'मधु-कैटभ'** भी हैं, जिनको तुममें स्थित महा-माया शक्ति की प्रसन्नता से मरवाना है, तो इष्टापत्ति के बदले अनिष्टापत्ति की ही अधिक सम्भावना है क्योंकि, वह इस **'रहस्य'** को समझ नहीं सकता। **'गोपनीयता'** यहीं उपयोगी है, परन्तु जो **कृतोपासक** अर्थात् **मध्यमाधिकारी** हैं, उनको तो **'रहस्य'** का बतलाना आवश्यक है। अस्तु, **'मधु-कैटम-बध'** कथानक का रहस्यार्थ यहाँ दिया जा रहा है। रहस्योद्घाटन हेतु समष्ट्यात्मक संज्ञाओं के व्यष्ट्यात्मक रूप का परिचय प्राप्त करना सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। फिर उस व्यष्ट्यात्मक रूप से किस प्रकार सद्यः लाभ उठाएँ, यह सीखना होता है। सीखने के लिए **'मनन'** और **'गुरु'** की आवश्यकता होती है, जिनके बिना सीखना सम्भव नहीं है।

'मधु-कैटम-वध'— कथानक में **'पूर्व-काल'** से सृष्टि के आदि-काल का बोध होता है, न

कि कुछ हजार, लाख या करोड़ वर्ष का। व्यष्टि में **'पूर्व-काल'** से **'जीव के यथार्थ ज्ञानोदय'** का बोध होता है। जीव जब **'सुरथ'** अर्थात् सुन्दर शरीर (सु = सुन्दर + रथ = शरीर) हो जाता है, तब वह **'स्वारोचिषु'** के अन्तर में अर्थात् अपने **'प्रकाश-क्षेत्र'** में आ जाता है। यही मानव-जीव **'चैत्र-वंश-समुद्भव'** कहलाता है। **'चित्रायां भवः चैत्रः'** अर्थात् अनेक प्रकार की चित्र-विचित्र योनियों से विकसित मानव जीव बुद्धि-सम्पन्न होता है।

आधुनिक जीव-विज्ञान का भी यही सिद्धान्त है कि मूल-योनि से सर्व-प्रथम एक कोश-वाला जीव उत्पन्न या विकसित होता है। यह जल-जीव-कोष **'मत्स्य'** कहा जाता है। फिर इससे बिच्छू, मछली, मेढक, उरग, स्तन-पायी जीव बन्दर होते हैं। तब वाक्-शक्ति-रहित मनुष्याकार जीव विकसित होता है, जिससे वाक्-शक्ति और तत्-पश्चात् बुद्धि-युक्त मनुष्य जाति हुई है। इसी का नाम है— **'चैत्र-वंश - समुद्भव'**, न कि चैत्र या चित्र नामक वंश में उत्पन्न मनुष्य का।

चैत्र-वंशीय **'सुरथ'** को **क्षिति-मण्डल का राजा** कहा गया है। ठीक है, **'क्षिति'** नाम है— विनाशी या अनित्य पदार्थ का — **'क्षि — नाशे + क्तिन्'।** इससे अनित्य शरीर का बोध है। इस शरीर को जो प्रकाशित करे, वही राजा— 'राज् प्रकाशे'। इस प्रकार **'क्षिति-मण्डल के राजा'** से 'सुरथ'-जीव की ज्ञानेन्द्रियों में प्रकाश की अंकुरितावस्था का होना बोध होता है। यह **'ज्ञान-योग-क्रम'** की बात है। **'क्रिया-योग-क्रम'** में इससे **'पृथ्वी-मण्डल'** अर्थात् **'मूलाधार'-चक्र** के ज्ञानी का बोध होता है, जिसकी प्रगति **'सुषुम्णा'** के अन्तर्गत **'चित्रा नाड़ी'** में हो रही है।

इस प्रकार, **ज्ञानेन्द्रियों में प्रकाश की अंकुरितावस्थावाला सुरथ जीव या 'मूलाधार-चक्र' का ज्ञानी सुरथ जीव अनेक जन्म-जन्मान्तर की साधना से सम्पन्न दिव्य-ज्योति के आभास से दीप्त हो, 'स्व-पथ' पर अग्रसर होने को आतुर रहता है।** ऐसी आतुरता आने पर ही माँ उसके पास **'गुरु'** के रूप में आती है और बाँह पकड़ अपने पास ले जाती है, परन्तु सभी कुछ नियत अवसर पर ही होता है, आगे-पीछे नहीं। निरुद्देश्य विकास-वादी भले ही इस सिद्धान्त को न मानें। हम तो सोद्देश्य विकास-वादी हैं। नियति द्वारा निश्चित उक्त अवसर तब आता है, जब सुरथ-जीव के माण्डलिक-गण अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ विद्रोही होकर **'कोलापुर'** (कोल = कुल्, सञ्चये) अर्थात् ज्ञान-भाण्डार में विपर्यय लाती हैं।

अब, ज्ञान-भाण्डार के नाश से क्या होता है? चरम विषाद की उत्पत्ति! फिर ज्ञान-भाण्डार के नाशक कौन हैं, यह भी विवेचनीय है। इसको शास्त्रों ने असम्भावना अर्थात् **संशय-जनित विपरीत भावना** को बताया है। यह संशय ही है, जो जीव को किसी एक सिद्धान्त पर नहीं रहने देता, जिससे जीव को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं हो पाता। संशय से बढ़कर हमारा कोई भी शत्रु नहीं। इसके पञ्जे में जो आया, वही गया। **'संशयात्मा विनश्यति'—** 'गीता'।

सच है, परस्पर-विरुद्ध भाववाले नाना धर्मों के फेर में पड़ मानव जाति की दुर्दशा होती है। वर्तमान मानव-समाज इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। इसी **संशय-रूपी असुर के पञ्जे में पड़ हम सभी भिन्न-भिन्न मत के और अपने मत के सिद्धान्तों की एक अजब खिचड़ी पका धर्म-रहित हो रहे हैं!** इसके दो कारण हैं— **१. तर्क-वाद का बाहुल्य** और **२. संशयोच्छेदकारक गुरुओं का अभाव।** सु-संस्कार-सम्पन्न जीव भी इसका शिकार हो जाता है। चूँकि **'सुरथ'** सद्-गुरु का चरणाश्रित नहीं था, अतः उसकी ऐसी दशा होती है।

'सुरथ' को **'स्व-पुर'** अर्थात् **'आत्म-नगर'** में भी किसी प्रकार से शान्ति नहीं मिलती क्योंकि वह **'हत-स्वाम्यः'** अर्थात् ईश्वरीय भाव से वञ्चित अथवा ईश्वर के अस्तित्व में भी सन्देही हो जाता है। ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह होने से वह किसी एक साधन-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता और जव यह अवस्था असह्य हो जाती है, तभी **'सुरथ'** — **'मृगया'** अर्थात् अनुसन्धान में प्रवृत्त हो जाता है। **'मृगया'** — **'मृग्यते अन्विष्यते मृगादया अन्वेषणीय-पदार्था यत्र सा।'** यह **'मृगया'** (अनुसन्धान) सभी पूजाओं में सर्व-श्रेष्ठ है। 'श्रुति' कहती है— **'नानुसन्धैः परा-पूजा।'** **'मृगया'** ही अनुभूति का आधार है। यह किया जाता है अकेले (एकाकी) अर्थात् िःसङ्ग। इसका वाहक साधन है — 'हय' (घोड़ा)।

'हय' अनेकार्थ-वाची पद है। **'हय'** नाम **इन्द्र** का भी है, जो समस्त देव-गण अर्थात् चैतन्य इन्द्रिय-गण का राजा व प्रकाशक है। **'मन'** ही इन्द्रियों का प्रकाशक है। अतः यहाँ **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **'हय'** से **'मन'** का ही तात्पर्य है। **'क्रिया-योग-क्रम'** में **'हय'** है **'नाद'**—

'ह्यति नादं शब्दं करोति।' इस भाव में **'हय'** पर वैठकर यात्रा करने का अर्थ है— **'नादानुसन्धान करना।'** फिर, **'भक्ति-योग-क्रम'** में **'हय'** पर सवार होने का अर्थ है — 'प्रार्थना करना।' कहा गया है — **'हय पूजने।'** पूजन वस्तुतः **'प्राण'** और **'मन'** दोनों की संवर्धन-प्रक्रिया है। यही नहीं, **'हय'** — 'सूर्य-किरण' का भी नाम है। किरण के द्वारा ही **'सूर्य-मण्डल'** या **'ज्ञान-मण्डल'** या **'प्रकाश-मण्डल'** को जाया जाता है। यही है गहन या दुर्गम वन। तन्त्रोक्त सर्व-श्रेष्ठ गहन वन है — **'सहस्रार'**।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि **'सुरथ'** वृक्षों या तृणों के वन में नहीं जाता। वह जाता है **'वन'** अर्थात् **'ब्रह्म' की खोज'** में — **'तत् ह तद्-वनं नाम'** (श्रुति)। 'श्रुति' के अनुसार **'ब्रह्म-वन'** के समान कोई वन नहीं है। **'हय'** सभी वनों के पार जा सकते हैं, पर **ब्रह्म-वन** का पार पाना असम्भव है।

'वन' जाने के दो तात्पर्य हैं। एक तो यह कि संसार से अलग होना और दूसरा यह कि अपनी ही बहिर्मुखी वृत्तियों से विमुख हो अन्तर्मुखी मण्डल में जाना। प्रथम अर्थ के अनुसार भाव यह है कि विषय-त्यागी होकर निर्विषयी ब्रह्म के चिन्तनार्थ सिद्ध-गुरु के चरणाश्रित होने के लिए जाना, किन्तु दूसरे पक्ष में है कि **'सुरथ'** अपने **'मानस-मण्डल'** (तन्त्रोक्त मानस-चक्र) से ऊपर **'बुद्धि'**-(विमर्श) मण्डल को, जो तन्त्रों में **'गुरु-मण्डल'** कहा

गया है, जाता है। वहीं **'गुरु'** का आश्रम है — **'आश्रम्यते आसमन्तात् श्रम्यते श्रमं कुरुते यत्र स आश्रमः।'** यहीं ठीक प्रकार से साधन किया जा सकता है।

यही है **'मेधा-क्षेत्र'**, जिसकी रूपकोक्ति है — **'मेधा ऋषि का आश्रम।'** यह कोई स्थान-विशेष नहीं है; अपितु यह अवस्था-विशेष है। वैसे तो **'मेधा'** का अर्थ 'ज्ञान' है, जिससे किसी पदार्थ की, विषय की प्राप्ति होती है। पर, यहाँ **'मेधा'** से **'ब्रह्म-ज्ञान-प्रदायी बुद्धि'** का तात्पर्य है। भगवान् आदि श्री शङ्कराचार्य ने अपने **'गीता'-भाष्य** में ऐसा ही कहा है— **'मेधया आत्म-ज्ञान-संरक्षणया प्रज्ञया।'** यहीं **'सुरथ'** को शान्ति मिलती है। **'मनन'** करते-करते उसको यहाँ **'निवृत्ति-भाव'** अर्थात् **'समाधि'** का पता मिलता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि **'सुरथ'** से प्रवृत्ति-मार्ग पर आरूढ़ जीव का तात्पर्य है और उसी **'सुरथ'** अर्थात् सु-संस्कार-सम्पन्न जीव का अपर निवृत्ति-मार्गारूढ़ रूप है **'समाधि'।** यह उस अर्थ से बोध होता है, जिसमें **'समाधि'** की व्युत्पत्ति है — **'समः सर्व-पर्यायः आधिः मनो-व्यथा यस्यासौ स्समाधिः।'** अर्थात् जिसमें सभी प्रकार की मनो-व्यथाएँ हों। **'सुरथ'** में मनो-व्यथाएँ थीं, इस हेतु वह **'समाधि'** भी कहा जा सकता है। भगवान् आदि शङ्कराचार्य की व्युत्पत्ति भी ऐसी ही है **'समाधीयते पुरुषोपभोगाय सर्व इति समाधिः।'** अर्थात् **'सुरथ'** और **'समाधि'** एक ही व्यक्ति हैं क्योंकि पुरुष या जीव के उपभोग के लिए **'पुरुषार्थ-चतुष्टय'** की साधन-शक्तियाँ मौजूद हैं। इस प्रकार, **'सुरथ'** ही **'समाधि'** है और **'समाधि'—'सुरथ'** है, ऐसा बोध होता है।

देवी-माहात्म्य

'मधु-कैटम-वध' में महा-माया के प्रत्यक्ष रूप का आविर्भाव नहीं है। इसके बाद के दोनों आविर्भावों की कथा (**'महिषासुर-वध'** एवं **'शुम्भ-निशुम्भ-वध'**) जो **'श्रीदुर्गा-सप्तशती'** के क्रमशः **'मध्यम चरित'** में और **'उत्तम चरित'** में कही गई है, महा-माया के प्रत्यक्ष रूप की कथाएँ हैं। इस प्रकार **'यौगिक लक्ष्य'** से **'प्रथम आविर्भाव'** (प्रथम चरित) **'भक्ति-योग'** का फल है, **'दूसरा आविर्भाव'** (मध्यम चरित) **'क्रिया-योग', 'हठ-योग'** का फल है और **'तीसरा आविर्भाव'** (उत्तम चरित) **'ज्ञान-योग', 'राज-योग'** का फल है।

'मधु-कैटम-बध' — लीला के पठन और श्रवण से देवी अर्थात् लीला-मयी प्रकाश-शक्ति की एकाङ्गी महिमा का ज्ञान होता है। यह ज्ञान **'साधना'** की भूमिका मात्र है। 'श्रुति' कहती है— **'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** अर्थात् सुनो, सोचो और साधन करो। सुनना और सोचना— दोनों ही व्यर्थ हैं, यदि उनके अनुसार क्रिया या साधना न करें। इस सिद्धान्त के अनुसार **'देवी-माहात्म्य'** का पाठ मात्र करें, यह उचित नहीं। सुनकर या पढ़कर **'मनन'** करना चाहिए।

मधु-कैटभ-बध-रहस्य

'सुरथ' और **'समाधि'**— एक हैं, यह समझने के लिए **'आत्मा' के भिन्न-भिन्न रूपों का ज्ञान** होना आवश्यक हैं। **'आत्म-निर्वचन सूत्र'** द्वारा आत्मा के रूपों का निरूपण छः प्रकार की प्रतिपत्तियों से किया जाता है। यथा— (१) **अवैकारिक रूढ़**, (२) **वैकारिक रूढ़**, (३) **योग-रूढ़**, (४) **यौगिक रूढ़**, (५) **यौगिक** और (६) **व्यूह।** इस सूत्र के अनुसार वेदादि शास्त्रों में एक आत्मा के सात, कहीं पाँच और कहीं तीन प्रकार के रूप कहे गए हैं। इनकी विशद विवेचना यहाँ असम्भव है। अतः यहाँ संक्षेप में विवेचना की जाती है, सो भी मात्र **'सप्तशती' - तत्त्व** के क्रम के अनुसार।

'सप्तशती' में **'आत्मा'** के केवल तीन ही रूपों या अवस्थाओं का प्रतिपादन है। इन तीनों को— (१) **जीवात्मा या भूतात्मा**, (२) **तैजस् आत्मा और** (३) **प्राज्ञ आत्मा** कह सकते हैं। **'सप्तशती'** के **'प्रथम चरित'** में तमसावृत्त भूतात्मा की उत्पत्ति की क्रिया है। **'द्वितीय चरित'** में तमसावृत्त भूतात्मा किस प्रकार **'तैजस-रूप में आत्मा'** कहलाती है और फिर किस प्रकार **'प्राज्ञ आत्मा'** बन जाती है, इसकी कथा है। **'तीसरे'** या **'उत्तम चरित'** में **'प्राज्ञ आत्मा'** किस प्रकार **'शुद्ध आत्मा'** के रूप में परिणत होती है अथवा सत्त्व गुणों से गुणातीत हो जाती है, इसकी कथा है। कथा के इस प्रकार के वर्णन को **'क्रिया-योग-क्रम'** में, विशेषकर **'कुण्डलिनी-योग'** में क्रमशः **'ब्रह्म-ग्रन्थि-भेदन'**, **'विष्णु-ग्रन्थि-भेदन'** और **'रुद्र-ग्रन्थि-भेदन'**— प्रक्रिया-त्रय कहते हैं।

भूतात्मा **तमो-गुण** प्रधान होती हुई भी **रजो-गुण** और **सत्त्व-गुण** से रहित नहीं है। सभी अवस्थाओं में तीनों गुण रहते ही हैं। अन्यथा, **तमो-गुण-प्रधान जीव** में **रजो-गुण** का आविर्भाव कहाँ से हो और **रजो-गुण-प्रधान** जीव या **तैजसात्मा** में **सत्त्व-गुण** कहाँ से आए? फिर **रजो-गुण** यदि **तमो** और **सत्त्व** दोनों गुणों के साथ न रहे, तो न **तमो-गुण** आवरण का कार्य करे और न **सत्त्व-गुण** प्रकाश का।

सत्त्व-गुण-रूपी प्रकाश जब सु-प्रतिष्ठित हो जाता है, तब **'लय'** हो जाता है। इस अवस्था में **'आत्मा'** का क्या रूप होता है, यह कोई नहीं कह सकता। शास्त्रों ने इस अवस्था को **'अनाख्यावस्था'** कहा है। इस अवस्था-विशेष में **सामान्य प्रज्ञा** या **ज्ञान** की क्या, कभी पातञ्जलोक्त **ऋतम्भरा प्रज्ञा** का भी लोप या लय हो जाता है क्योंकि **ज्ञान** भी लाख सात्विक होने पर भी **जीव का बन्धन** ही तो है।

अस्तु, हम अगर **'सप्तशती'** में **'सुरथ'** और **'समाधि'** को दो प्रकार के दो व्यक्ति मान लें, तो भी कोई आपत्ति नहीं। **'सुरथ'** प्रवृत्ति-मार्ग के पथिक और **'समाधि'** निवृत्ति-मार्ग के पथिक प्रतीत होते हैं। इसी से **'सप्तशती'** में **महा-माया** की साधना से **'सुरथ'** और **'समाधि'**

विदेह-मुक्त होते हैं। अगर **'सप्तशती'** में **जीवन्मुक्ति** मात्र की शिक्षक कथा रहती, तो शिक्षण अधूरा ही रहता। इसी से **विदेह-मुक्ति** की शिक्षण-कथा भी **'सप्तशती'** में सन्निहित है।

'सप्तशती' के शिक्षण में केवल सिद्धान्त की बात कही गई है, विधि का उल्लेख नहीं है। विधि तो अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सद्-गुरु-मुख से ही ज्ञातव्य है। **'सप्तशती'** के कथानकों की वर्णन-शैली इतनी सुन्दर है कि **मेधा, सुरथ** और **समाधि** को पृथक्-पृथक् मानें अथवा एकत्र-रूप का मानें, शिक्षण एक ही रहेगा। फिर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार किसी भी **'योग-क्रम'** से लाभ उठाएँ। तात्पर्य यह है कि क्रिया-योगान्तर्गत **'कुण्डली-योग-क्रम'** से साधन करें या **'ज्ञान-योग-क्रम'** से करें अथवा उक्त योग-द्वय के संयुक्त रूप **'भक्ति-योग'** से करें, एक ही फल की प्राप्ति होती है। **'सप्तशती'** को इसी से **'उपनिषत्'** कहा जाता है। **'उपनिषत्'** का अर्थ है, समीप ले जानेवाला अर्थात् **ब्रह्म-ज्ञान** करानेवाला। **'सप्तशती'** के सिद्धान्त और **श्रीमद्-भगवद्-गीता** के सिद्धान्त एक ही हैं। इसी से इसका **नित्य स्वाध्याय** या **पाठ** निर्दिष्ट है।

'सुरथ' और **'समाधि'**— दोनों अथवा दोनों रूपों का एक ही व्यक्ति अर्थात् **भोग और मोक्ष के इच्छुक** अपने शरीरस्थ **अन्तरात्मा गुरु** के निकट अथवा **पार्थिव सिद्ध-गुरु** के निकट जाकर यह सीखते हैं कि **सामान्य ज्ञान,** जो जीव-मात्र में और विशेष कर मनुष्य-जीव में है, वह काम का नहीं है क्योंकि केवल **'सैद्धान्तिक ज्ञान'** से फल की प्राप्ति नहीं होती। **'व्यावहारिक ज्ञान'** भी होना चाहिए। यथा— **'अहं ब्रह्मास्मि'** अर्थात् **'मैं ब्रह्म हूँ'**— यह कहने मात्र से हम **'ब्रह्म'** नहीं हो जाते। **'ब्रह्म'** होने के लिए **'ज्ञान-योग-क्रम'** द्वारा **ब्रह्म-ज्ञान** का परि-पाचन होना चाहिए। **'क्रिया-योग'** की प्रक्रियाओं का यथा-क्रम **साधन** करना चाहिए और **'भक्ति-योग-क्रम'** में **शास्त्र-निर्दिष्ट साधन** की आवश्यकता होती है, परन्तु किसी प्रकार का साधन करने से पूर्व **संशय का नाश** अर्थात् **पूर्ण विश्वास** की मूलावश्यकता है। अन्यथा **साधन** में प्रवृत्ति हो भी, तो यह टिक नहीं सकती।

इसी से उक्ति है--- **'विश्वासः फल-दायकः'** अर्थात् **विश्वास** से **फल** की प्राप्ति होती है। **विश्वास** दिलाना है, संशय-रहित करना। **विश्वास** का एक-मात्र मूल है, **'गुरु-वाक्'**। इसी से **'तन्त्र-शास्त्र'** का यह सिद्धान्त है कि सभी शास्त्र विडम्बना करनेवाले हैं। मुक्ति देनेवाली तो एक **'गुरु-वाक्'** ही है— **'मोक्षदा गुरु-वागेका, सर्वे शास्त्रा विडम्बकाः।'**

अस्तु, **मेधा-गुरु का उपदेश** जो रूपकों में है, उसको स्वाभाविक उक्तियों में लाते हैं—

"**कल्पान्त** होने पर अर्थात् जीव के द्वारा पार्थिव या विषय-चिन्तन का अन्त हो जाने पर **'विष्णु'** अर्थात् **'जीवात्मा', योग-निद्रा** में अभिभूत अर्थात् **ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से निष्क्रिय** हो जाता है।

'विष्णु' की शय्या है— **'शेष-नाग'**। यह **'नाग'** कोई पार्थिव नाग नहीं है। यह है **अचित् भाव की शेषावस्था** और यदि **शेष** को **अनन्त** कहें, तो **असीम भाव** के तात्पर्य का बोध होता

है। इस अवस्था में, **'देश'** और **'काल'** का भी **'लय'** रहता है। इस अवस्था को **'अपरिच्छिन्नावस्था'** कहते हैं। इसी को **'एकार्णवा अवस्था'** भी कहते हैं। इस अवस्था में, **'पृथ्वी'** अर्थात् **पार्थिव अचित् भाव**— **'जल'** अर्थात् **'रस' (ब्रह्मानन्द-रस)** में डूबा हुआ रहता है। इस समय **'विष्णु'** या **'जीवात्मा'** के **'नाभि-कमल'** पर **'प्रजापति ब्रह्मा'** बैठे रहते हैं। यहाँ **'प्रजापति ब्रह्मा'** से क्या बोध है? इसकी विवेचना आवश्यक है।

'प्रजापति'-पद अनेक अर्थोंवाला है। इसका एक अर्थ है— **'प्रजाओं या सन्ततियों का स्वामी।'** दूसरा अर्थ है -- **'प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न हुआ जीव।'** यह प्रकृष्टत्व है— **'स्वयम्भुत्व'**। स्त्री-पुरुष के सम्पर्क से जो उत्पन्न होता है, वह **'स्वयम्भु'** नहीं है। जो इस प्रक्रिया के अतिरिक्त उत्पन्न होता है, वही **'स्वयम्भु'** है। **'ब्रह्मा'** — **'स्वयम्भुव'** कहलाते हैं, क्योंकि यह **'समष्टि मन'** है, जो **'व्यष्टि मन'** से अभिन्न है। जिस प्रकार, **'विष्णु'**— **'समष्टि आत्मा'** हैं और व्यापकत्व के कारण **'व्यष्टि आत्मा'** भी हैं। 'योग-वासिष्ठी सिद्धान्त' यही कहता है— **'मन एव विरिञ्चित्वं'** ('उत्पत्ति-प्रकरण, २/३४)। इनकी जननी **महा-माया भगवती** हैं। तात्पर्य कि **महा-माया** की **'इच्छा'-शक्ति** का नाम **'ब्रह्मा'** है। **'विष्णु'** और **'रुद्र'** के नामों से भगवती की **'ज्ञान'-शक्ति** और **'क्रिया'-शक्ति** का बोध होता है।

'ब्रह्मा' की पर्याय-वाचक वैदिकी संज्ञा है— **'आदि प्रजा-पति'**। स्थानाभाव के कारण यहाँ **'प्रजा-पति'** के सम्बन्ध में पूर्ण विचार असम्भव है। संक्षेप में, इतना ही कहना है कि **'प्रजा-पति'** मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं -- **(१) अनिरुक्त** या **अनिर्वचनीय** और **(२) निरुक्त** अर्थात् **स्व-गत भेद-युक्त, वचनीय, परिच्छेद** आदि लक्षणवाले। इन दोनों को क्रमशः **'अव्याकृत'** और **'व्याकृत'**-रूपक कहते हैं। **'अव्याकृत'** (अनिरुक्त) के बारे में **'यजुर्वेद'** की उक्ति है— **'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर जायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परि-पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् हतस्थुर्भुवनानि विश्वा।'** (यजुर्वेद-संहिता, ३१/१९)।

व्याकृत (निरुक्त) के बारे में **'ऋग्वेद'** की उक्ति है—**'प्रजापतिर्महामेतारदाणो विश्वैर्देवैः पितृभिः सम्विदानः। शिवाः सती रुपानो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया संसदेम्।।'** (ऋग्वेद-संहिता, १०/१)।

इस प्रकार, पहला **'अव्याकृत'** जड़ कूटस्थ-रूप है और दूसरा **'व्याकृत'** व्यक्त-रूप है। **'व्याकृत'**— रूप की बनावट की बात वेदों में वर्णित है। **'वेद'** के अनुसार यह **'निरुक्त प्रजापति'** — **१ मन, २ प्राण** और **३ वाक्** के समुच्चय से **त्रि-धातु** का है। **'त्रि-धातुक'** होने से इसे **'त्रि-पर्वा'** या **'तीन भागवाला'** कहा जाता है। **'तीन भागवाले'** से यह तात्पर्य नहीं है कि एक **शुद्ध मनवाला,** दूसरा केवल **प्राणवाला** और तीसरा **वाक्वाला।** वस्तुतः प्रधानता के अनुसार तीन भाग (पर्व) कल्पित हैं। यथा— **'मनः-प्रधान नाभि-मण्डल'** (मणिपुर-चक्र) में है। इसकी संज्ञा **'नभ्य प्रजापति'** है। **'तन्त्रों'** के अनुसार यह **'पश्यन्ती वाक्'** है। **'प्राण-प्रधान'** (प्राण-पर्वा) की वेदोक्त संज्ञा **'महिमा-प्रजापति'** और **वाक्-प्रधान** की संज्ञा **'मूर्ति-प्रजापति'** है। **'तन्त्रों'** में ये दोनों क्रमशः **'मध्यमा'** और **'वैखरी'-वाक्** हैं। ये तीनों यथार्थतः एक ही हैं, पर व्यावहारिक दृष्टि से प्रधानता के आधार पर तीन कहे गए हैं।

यहाँ **'विष्णु के नाभि-कमल'** पर बैठनेवाले **मनः-प्रधान** नामक **'प्रजापति'** हैं। ये समष्टि-रूप में **'समष्टि-मन'** और **व्यष्टि-रूप** में **'व्यष्टि-मन'** हैं। इन **'मन' - रूपी 'ब्रह्मा'** से 'नाभि' - प्रदेश में स्थित स्नायु-केन्द्र की शक्ति से विशेष-विशेष भावों का ज्ञान उपलब्ध होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि **'ज्ञान'** केवल मस्तिष्क में नहीं होता है, अपितु विशिष्ट-विशिष्ट भावों के **'ज्ञान'** अन्य स्नायु-केन्द्रों में भी होते हैं। हमारे ऋषियों के अनुसार, प्रथम **'ज्ञान'** या आभास **'नभ्य मनः-शक्ति' (ब्रह्मा)** को होता है। हमारी यह **'मनः-शक्ति'** जितनी सम्वर्धित रहती है, उतना ही **शुद्ध ज्ञान** होता है। यही **'धारणा'** है। फिर हमारी **'धारणा'** जितनी विशुद्ध रहती है, उतना ही **'विशुद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान'** होता है। हमारी **'धारणा'** किस तरह ठीक हो, यही यहाँ बताया गया है। दूसरे शब्दों में, **जनार्दन (आत्मा)** को किस प्रकार **'विशुद्ध चेतना'** की प्राप्ति होती है, यही **'सप्तशती'** के पहले चरित में कहा गया है।

'आत्मा' की ही एक गुणाधार संज्ञा है— **'जनार्दन'**। **'जनार्दन'** - पद का एक अर्थ है, **'ज़न'** अर्थात् **'असुर'** का अर्दन या दमन करनेवाला। इस अर्थ में जो **'आत्मा'** या **'व्यक्ति'** अपने आसुरी भावों पर विजय पा गया है, वही **'जनार्दन'** है। **'जनार्दन'** - पद का दूसरा अर्थ है, **'जन'** अर्थात् **जनन** या **पुनर्जनन** का नाश कर लिया है जिसने। फिर, **सङ्कल्प-विकल्प-राशि का जनन या उत्पत्ति** जिसने रोक ली है, वह भी **'जनार्दन'**-पद से वाच्य है। इस प्रकार **'जीवन्मुक्त'** और **'विदेह-युक्त'** जीव भी **'जनार्दन'** - पद से वाच्य है।

इन सोए हुए **जनार्दन** के दोनों कानों के मल से **'मधु'** और **'कैटभ'** दो असुरों की उत्पत्ति होती है। यह बात कुछ विशेष रहस्य-मयी भाषा में है। **'कर्ण'** से यहाँ **'कान'** का बोध नहीं है। यहाँ **'कर्ण'** से **'कर्म'** का ही बोध है अथवा यहाँ **'कर्ण'** - पद की व्युत्पत्ति औणादिक (उणादि) है --- 'कृ+न'। 'कर्ण+घङ् = **कर्ण** का अर्थ है **'कान'**। यह व्युत्पत्ति यहाँ सम्भव नहीं है। **'कर्म-मल'** या **'कार्मिक मल'** केवल **'ब्रह्मा'** और **'विष्णु'** में रहता है। **'तन्त्र-शास्त्र'** का सिद्धान्त है कि **'मल'** पाँच प्रकार के हैं—

(१) **'आणव्य'** मल अर्थात् अणु-सम्बन्धी मल— यह जीव-मात्र में रहता है।

(२) **'कर्म'** या **'कार्मण'** मल — जो **'ब्रह्मा'** और **'विष्णु'** में रहता है।

(३) **'मायिक'** मल — यह **'रुद्र'**-मात्र में है।

(४) **'प्राकृत'** मल - यह **'ईश्वर'** में है और ---

(५) **आहङ्कारिक (अहंकृति)** मल -- यह **'सदा-शिव'** में भी रहता है।

एक-मात्र **'पर-शिव'** ही है, जो पूर्ण निर्मल है। देखिए, **'शक्ति-सङ्गम-तन्त्र' (काली-खण्ड)** कहता है—

आणव्यं जीव-मात्रं स्याद्, ब्रह्म-विष्णोश्च कार्मणम्। माया-मूलस्तु रुद्रस्य, प्राकृतस्तु तथेश्वरे।।

सदा-शिवस्याहङ्कारः, पर-शम्भोर्न किञ्चन।

अतएव, **'विष्णु'** का **'कर्ण-मल'** या **'कार्मण-मल'** है --- **'मधु'** और **'कैटभ'**। इन्हीं दोनों से मन-रूपी **'ब्रह्मा'** उद्वेलित होता है। अब **'मधु'** और **'कैटभ'** क्या हैं? यह देखना है।

'कर्म' दो प्रकार का है --- एक अच्छा और दूसरा बुरा। **'गीता'** की **'सुकृति'** और **'दुष्कृति'** यही है। 'कठ-भाष्य-कार' के मत से **'मधु'** है **'इष्ट कर्म-फल'— 'मधुमिष्ट-कर्म-फलम्'**। इस प्रकार यही **'सुकृति'** है।

और **'कैटभ'— 'कीट-वद् भाति इति कीटभः, तद्-भाव कैटभः'** से **'दुष्कृति'** का बोध है। क्योंकि **कैटभ-ग्रस्त जीव** अर्थात् **कैटभी भावापन्न जीव** दूसरों को कीट-वत् अर्थात् तुच्छ मानता है। यह भाव द्वेष-मूलक है। अतः हम इन दोनों को **'राग-द्वेष'** भी कह सकते हैं।

'गीता' की उक्ति है— **'बुद्धि-युक्तो जहातीह, उभे सुकृति-दुष्कृते।'** इस प्रकार, **'मधु-कैटभ-बध'** से **'राग'** और **'द्वेष'** को **बुद्धि-रूपिणी महा-माया** की सहायता से मारने का बोध होता है।

प्रकारान्तर में, **'मधु'** और **'कैटभ'** को हम **'आवरण'** और **'विक्षेप'** भी कह सकते हैं। ये ही **'संशय'** में डालनेवाले होते हैं। **'मन'** उद्वेलित होता है केवल **'संशय'** के कारण। यह **'संशय'** मुख्यतया दो प्रकार का है— एक **'प्रमाण'-गत** और दूसरा **'प्रमेय'-गत**।

'प्रमाण'-गत संशय मुख्यतः, **'शब्द-प्रमाण'** और **'अनुमान-प्रमाण'** से सम्बन्ध रखता है। **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** अर्थात् पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के अनुभूत विषयों के प्रमाण से इसका क्वचित् सम्बन्ध है। **'विक्षेप'** ही इसका कारण है। **'विक्षेप'** से हम प्रत्यक्ष दिखाई पड़नेवाली रस्सी को भी साँप समझ लेते हैं। यह हुई **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** की बात। **'अनुमान-प्रमाण'** और **'शब्द-प्रमाण'** में भी प्रतिकूल अनुमान और अनिश्चितत्व हैं। **'शब्द-प्रमाण'** के सम्बन्ध में हमारी **'अविद्या'** विशेषकर **'समन्वय-विद्या'** का अभाव प्रधान है।

अब रहा दूसरे प्रकार का संशय— **'प्रमेय-गत संशय।' 'प्रमेय'** है वह विषय या पदार्थ, जिसके ज्ञान की इच्छा हममें होती है। यह **'संशय'** तीन प्रकार का होता है— (१) **'आत्म-विषयक'** अर्थात् मैं कौन हूँ?, मैं क्या हूँ? इत्यादि। (२) **'ईश्वर'-विषयक** अर्थात् ईश्वर है कि नहीं? अगर है, तो कहाँ है? इत्यादि। (३) **'परमात्म'-विषयक** अर्थात् परमात्मा क्या है? उसका रूप है कि नहीं? इत्यादि। इन तीनों के अन्तर्गत **परमार्थ-विषयक** सभी बातें हैं।

अब, इन दोनों प्रकार के संशयों का उन्मूलन किस तरह होता है, यह देखना है। इस उन्मूलन का यह नियम है कि आदि में जब **'प्रमाण'-गत संशय** हट जाता है, तभी **'प्रमेय'-गत संशय** नष्ट होता है। **'प्रमाण'-गत संशय** नष्ट होता है— **'सद्-गुरु' की उपलब्धि** मात्र से। जब **'प्रमाण'-गत संशय** 'गुरु की कृपा' से नष्ट होता है, तभी **'प्रमाण'-साधन** के द्वारा, जो गुरु द्वारा निर्दिष्ट होता है, **'प्रमेय'-गत संशय** का नाश होता है।

मशः

ब्रह्मा जी की स्तुति का रहस्य

'आत्म-शक्ति' कैसे जागती है? यह जागती है— **'स्तवन-क्रिया'** से। **'स्तवन-क्रिया'** क्या है? यह देखना है! साधारणतया **'स्तवन'** से हम गुण-कीर्तन समझते हैं। देवताओं-देवियों के गुण-कीर्तन-रूप-स्तव का पाठ एक बार या सौ बार कर लेने से **'स्तवन'-क्रिया** सम्पूर्ण नहीं होती है। इसके लिए इसकी **'दृढ़ धारणा'** की आवश्यकता होती है और फिर **'धारणा'** के अनुसार कर्म करने से यह फल-प्रद होती है।

उदाहरण के रूप में, जब हम यह गुण-गान करते हैं कि **'माँ! सर्व-साक्षिणी हैं'**, तब हमारी यह **'धारणा'** बनती ही नहीं है। अगर बनती, तो उसके भय से, सङ्कोच से हम कोई भी बुरा काम न करते। **'वह सर्व-व्यापिनी है'**— ऐसा यदि समझते, तो वह मन्दिर में ही रहती है, ऐसा न मानते। अगर हमारी यह धारणा कि वह मुझमें भी है, दृढ़ रहती व' इस पर विश्वास रहता, तो हम अपने को निःसहाय समझकर सहायक के पीछे दौड़-धूप न करते। इस प्रकार हम **'स्तवन'**, **'गुण-कीर्त्तन'** मुख से करते हैं, किन्तु हृदय से अपनी **'स्तवोक्ति'** पर विश्वास नहीं करते। इसी से हम फल से वञ्चित रह जाते हैं।

उक्त **विश्वास** के अतिरिक्त एक और वस्तु है, जिसके बिना **फल-प्राप्ति** असम्भव है। जिस प्रकार **'मन्त्रार्थ का ज्ञान'** मात्र फल-दायक नहीं है, वैसे ही केवल **'माँ का गुण-गान'** या **'गुण का विश्वास'** फल-दायक नहीं है। जिस प्रकार **'मन्त्र'-चैतन्य** से ही फल-प्राप्ति है, वैसे ही **'स्तव'** या **'प्रार्थना'** सिद्ध हो, इसके लिए किस पद्धति से **'स्तव'** किया जाए, इसका निर्देश शास्त्रों में है। यह पद्धति ठीक **'गायत्री-मन्त्र'** के समान है। तात्पर्य कि जो कुछ **'गायत्री-मन्त्र की सिद्धि'** के लिए निर्दिष्ट है, वही प्रक्रिया सभी मन्त्रों के लिए और सभी स्तवों के लिए लागू है।

'गायत्री-मन्त्र की सिद्धि' अथवा सभी मन्त्रों की सिद्धि **'व्याहृति'** के अनुसार प्रक्रिया करने से होती है। ये व्याहृतियाँ, जिनकी संख्या सप्त-चक्रों के अनुसार सात है, प्रक्रिया करने की विधि-स्वरूप हैं। यहाँ संक्षेप में इसका उल्लेख किया जाता है। विशद ज्ञान के लिए **'श्रीगायत्री-कल्पतरु'** पुस्तक द्रष्टव्य है। सातों व्याहृतियाँ— **१ भूः, २ भुवः, ३ स्वः, ४ महः, ५ जनः, ६ तपः और ७ सत्यम्** — मन्त्र नहीं हैं, जैसा हम समझते हैं। ये **'मन्त्र' - जप करने की विधियाँ** हैं।

जो **भूः-लोक** अर्थात् **'मूलाधार-चक्र'** या **'पृथ्वी-चक्र'** में स्थित हो **'गायत्री-मन्त्र'** का जप करे, वह केवल एक प्रथम व्याहृति **'भूः'**-संयुक्त कर **'जप'** करे। इसी प्रकार, जिसकी जितनी योग्यता है, वह वहाँ तक के **चक्र की प्रतीक व्याहृतियों को संयुक्त कर 'जप'** करे।

'गायत्री-मन्त्र' के पहले **व्याहृति -त्रय (भूः, भुवः, स्वः)** के संयोग से तात्पर्य है कि **'भूः-चक्र'** से **प्राण-शक्ति (कुण्डलिनी)** को उठाकर **'स्वः-चक्र'** अर्थात् **'मणिपुर-चक्र'** पर अवस्थित

करे और तब **'गायत्री'** का जप करे। इस प्रकार **'जप'** करने से ही **'गायत्री'-जप की सार्थकता** है। कारण, जब तक एक भी ग्रन्थि अर्थात् प्रथम ग्रन्थि— **'ब्रह्म-ग्रन्थि का भेदन** नहीं होता, तब तक **'गायत्री' में फल-दायक चेतनता** नहीं आती है।

अब **'प्राण-शक्ति'** को जगाएँ कैसे और जगाकर उठाएँ कैसे? यह लेखन का विषय नहीं है। यह प्रक्रिया **'गुरु'** से ही सीखी जाती है। इसी हेतु 'सप्तशती' में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं है। पर **'सुरथ'** और **'समाधि'**, जो गुरु मेधस से **देवी-माहात्म्य** सुनकर साधन करने को गए, गुरु से व्यावहारिक साधन-प्रक्रिया भी सीखकर गए, ऐसा समझना चाहिए। उनकी **'सिद्धि'** से यही बोध होता है कि उन्होंने सैद्धान्तिक ज्ञान तो सीखा ही, साथ-साथ व्यावहारिक शिक्षा भी ली। अन्यथा, **'सिद्धि'** कैसे हुई? केवल सैद्धान्तिक ज्ञान से यह असम्भव है।

अस्तु, **'विष्णु'-रूपी 'आत्मा'** को जगाने के उद्देश्य से **'ब्रह्मा'जी** अर्थात् **'नभ्य मन'** 'स्तव' करता है। यह **'स्तव'** साधारण स्तव नहीं है। भ्रान्त धारणा के कारण हम जोर-जोर से पाठ करने को 'स्तवन' कहते हैं। कारण हम **'स्तव'** की परिभाषा ही नहीं जानते। **'भावनोपनिषद् श्रुति'** कहती है — **'नाद के द्वारा तादात्म्य (एकता) का चिन्तन ही स्तवन है।'**

इसी सिद्धान्त पर **'मण्डल ब्राह्मण श्रुति'** केवल दो शब्दों में कहती है कि **'स्तुति'** है 'मौनावस्था'— **'मौनं स्तुतिः।'** परन्तु यहाँ मौन से न बोलने मात्र का तात्पर्य नहीं है। चुप होकर दुनिया भर की बातें सोचें, तो यह **'मौन'** नहीं कहा जा सकता। यह तो **'जिह्वा-मौन'** है। वास्तविक मौन तो **'मानसिक मौन'** है अर्थात् **'मन का निग्रह'** है। इसके विशद ज्ञान के लिए **'योग-वासिष्ठ'**, निर्वाण-प्रकरण (पूर्वार्द्ध) का ६८- वाँ सर्ग देखा जा सकता है। मुख्य बात यही है कि **मानसिक मौनावस्था में 'स्तवन' करने से ही फल की प्राप्ति** होती है।

ब्रह्मा जी की स्तुति भी ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं— **''वह विश्व की स्वामिनी है। अर्थात् उसकी इच्छानुसार सभी छोटे-बड़े कार्य होते हैं। जगत् अर्थात् परिवर्तन-शील पदार्थ और वृत्तियों की पोषण करनेवाली, रखनेवाली और लय करनेवाली वही है। वही 'विष्णु' अर्थात् 'प्राण-पुरुष' की अतुलनीय शक्ति है। वही 'निद्रा भगवती' अर्थात् सर्वैश्वर्य-शालिनी, सबका तिरस्कार करनेवाली एक-मात्र स्वतन्त्रा सर्व-श्रेष्ठा सत्ता है।**

वही 'स्वाहा' अर्थात् सभी की अहं-कृति की नाशक है। वही 'स्वधा' अर्थात् अहं-कृति की पोषण-कर्त्री है। दूसरे शब्दों में, वही 'महा-आसुरी-रूप' में 'अहन्ता' की धात्री है और वही 'महा-देवी' या 'महा-विद्या' के रूप में 'पराहन्ता' की धात्री है।

वही 'वषट्-कार' है अर्थात् विश्व के सभी पदार्थों की वहन-शक्ति है। वही 'स्वरात्मिका' है अर्थात् सभी शब्दों-कम्पनों का मूल है। वही 'अर्ध-मात्रा' है, जिसका उच्चारण बहुत ही विशेष-रूप से होता है।

वही वह है अर्थात् जिसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। 'सावित्री' भी वही है अर्थात्

'सविता' - शक्ति भी वही है। वही देवी या प्रकाश या लीला करनेवाली या दान करनेवाली या व्यवहार-कुशला है। वही 'जननी परा' अर्थात् आदि-कारण है। वही 'सृजन-कर्त्री', पालन या 'स्थिति-कर्त्री' और 'लय-कर्त्री' है।

एक वही अच्छा और बुरा दोनों है। यथा वही 'महा-विद्या' अर्थात् 'महा-विज्ञान' है, तो वही 'महा-अविद्या' अर्थात् 'महा-अज्ञान' भी है। वही सर्व-श्रेष्ठा 'मेधा-शक्ति' अर्थात् सब समझनेवाली और 'महा-स्मृति' अर्थात् सब स्मरण रखनेवाली है, तो वही 'महा-मोहा' अर्थात् कुछ भी न समझनेवाली है और न स्मरण रखनेवाली शक्ति है। वही 'महा-देवी' अर्थात् 'महा-चिति-शक्ति' और 'महाआसुरी' अर्थात् 'महा-अचिति शक्ति' है।

वही सबकी त्रि-गुणात्मिका प्रकृति है। तात्पर्य कि अपनी इच्छा के अनुसार सबको कभी 'तमो'-गुण प्रधान, तो कभी 'रजो'-गुण-प्रधान और कभी 'सत्व'-गुण-प्रधान बनाती रहती है।

वही 'काल-रात्रि', 'महा-रात्रि', 'मोह-रात्रि' और 'दारुण-रात्रि' है। अर्थात् वही इन अवस्थाओं के ले आनेवाली शक्ति है। 'काल-रात्रि' में 'काल'-शब्द समय बोधक नहीं है, यह यहाँ क्रिया-बोधक है। जिस अवस्था में सभी क्रियाएँ बन्द हों अर्थात् क्रिया-शीलता निष्क्रिय हो, वही 'काल-रात्रि' है। ऐसी अवस्था ले आनेवाली वही है।

'महा-रात्रि' से ब्रह्मा अर्थात् मन की निष्क्रियावस्था का बोध है। मन की निष्क्रियावस्था ले आनेवाली वही है। 'मोह-रात्रि' से विष्णु अर्थात् ज्ञान-शक्ति की अवरुद्धावस्था का तात्पर्य है और 'दारुण-रात्रि' का अर्थ है महा-भयानक

रात्रि। इस अवस्था में सब कुछ निष्क्रिय रहता है। तात्पर्य कि जब इच्छा, ज्ञान और क्रियाएँ तीनों बन्द रहें, तो इसी अवस्था को 'दारुण-रात्रि' कहते हैं।

वही 'श्रीः' अर्थात् विज्ञान-शक्ति है। वही 'ईश्वरी' अर्थात् हमारी स्वामिनी अतएव आराध्या है। 'ह्रीं' अर्थात् अकरणीय न करानेवाली लज्जा या सङ्कोच-भाव भी वही है। वही 'बोध-लक्षणा बुद्धि' है अर्थात् यथार्थ ज्ञान करानेवाली बुद्धि है, न कि मिथ्या या विपर्यय ज्ञान करानेवाली। वही 'लज्जा' अर्थात् पश्चात्ताप है। 'पुष्टि' अर्थात् उपचय शक्ति और 'तुष्टि' अर्थात् सन्तोष-शक्ति भी वही है। वही 'शान्ति' शक्ति है अर्थात् उसकी शरण में जाने से ही वास्तविक सम्पत्ति शान्ति मिलती है।

वही 'क्षान्ति' अर्थात् तितीक्षा (सहिष्णुता)-शक्ति है। उसकी प्रसन्नता से हममें तितीक्षा-शक्ति बढ़ती है, जिससे हम पर कठोर-से-कठोर विपदाओं के आघात का असर नहीं होता।

उसके आयुध दुःख-निवृत्ति के साधन हैं। 'खड्ग'— बहिर्मुखी वृत्तियों को खण्ड-खण्ड करनेवाला ज्ञान है। 'शूल' (त्रिशूल) अज्ञान का अन्तः-स्थल तक विदारक (फाड़नेवाला) है। 'गदा' विषय-भावों को चूर्ण-विचूर्ण करनेवाला है। शङ्ख नाद-द्वारा विशिष्ट आसुरी-सर्गों का नाशक या दैवी-सर्गों का उत्पादक है। 'चक्र' अर्थात् चक्राकार काम करनेवाली शक्ति है, जो अनात्माकार वृत्तियों को काट गिराती है। इस 'चक्र-शक्ति' से अनेक कार्य होते हैं।

'चाप' अर्थात् 'धनुष' से बाँस के धनुष का बोध नहीं है। यह वह 'आध्यात्मिक धनुष' है, जिस पर महा-अस्त्र प्रणव-रूपी शर से ब्रह्म-रूपी लक्ष्य का भेदन होता है— 'धनुर्गृहीं- त्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासना-निशितं सन्दधीत। आयम्य तद्-भाव-गतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षर सौम्य विद्धि।' (मुण्डकोपनिषद् २/२/३)। यह धनुष 'क्रिया-योग' में भी कहा गया है। 'चपस्य वंश-भेदस्य विकारश्चापः' से कुल-चक्रों के भेदन से जो चाप या धनुष बनता है, उससे तात्पर्य है। 'क्रिया-योग-क्रम' में बाण— 'वणनं वाणः वण-शब्दे' से शब्द या नाद का बोध है, जो अविद्या का नाश करता है।

'भुशुण्डी' से 'भुवः शुण्डे (शुण गमने) च दीर्घत्वात् भुशुण्डी' अर्थात् **पार्थिव विषयों से ऊपर परमार्थ-क्षेत्र में जानेवाली शक्ति का बोध है।**

'परिघ' से 'परितो हन्यते अनेनेति परिघः' अर्थात् **सब तरफ से या सब प्रकार से अज्ञान-रूपी शत्रु के नाश करनेवाली शक्ति से बोध है।**

वह केवल 'सौम्य-मूर्ति' ही नहीं है अपितु 'सौम्य-तरा' एवं अशेष सौम्य से भी अधिक सुन्दरी है। इसका यह तात्पर्य है कि वह सबसे बढ़कर सौम्य सुन्दरी है, उससे अधिक कोई है ही नहीं। अब यहाँ यह देखना है कि यह **विश्व-सुन्दरी** किसको और किस प्रकार अर्थात् किस अवस्था में कहा गया है। **महा-माया दुर्गा** के असंख्य गुणों के आधार पर असंख्यक मूर्त्तियों की कल्पनाएँ हैं। इनमें तीन रूप ही प्रधान हैं — **(१) महा-काली, (२) महा-लक्ष्मी** और **(३) महा-सरस्वती।**

* * *

महा-काली-रहस्य

'वैकृतिक-रहस्य' के अनुसार 'महा-काली', अञ्जन-तुल्य नील-वर्णा, दशानना, दश-भुजाओं में १ खड्ग, २ बाण, ३ गदा, ४ शूल, ५ शङ्ख, ६ चक्र, ७ भुशुण्डि, ८ परिघ, ९ धनु, और १० नरमुण्ड धारण किए थीं।

'श्रीदुर्गा सप्तशती' के प्रथम चरित की नायिका **भगवती महा-काली** हैं, जिनकी **ब्रह्मा जी द्वारा 'स्तुति'** की गई है। **भगवती महा-काली** दश-शीर्ष, दश-भुजा और दश-पादवाली हैं। इनका रङ्ग भी घोर काला है। अतः इनकी आकृति बड़ी ही भयङ्कर है। फिर ये **'परमा-से-परमा सुन्दरी'** कैसे कही जा सकती हैं? अगर किसी के यहाँ इस रङ्ग-रूप की लड़की का जन्म हो, तो वह आह्लादित होगा या डर से उसको हृत्-कम्प होने लगेगा! मगर जो **'रूप-तत्त्व'** का ज्ञानी है या जो **'कल्पना-राज्य'** का अधीश्वर— **'प्रकृत कवि'** है, वह समुद्र के भीषण गर्जन, उच्च-तम जल-प्रपात के घोर-नाद, राकेश-रहित निशीथ में श्मशान की नीरवता इत्यादि में— प्रकृत सुन्दरता को देख प्रकृति के कार्य-कलाप की कुशलता की भावना कर आनन्द-विभोर हो उठता है। ऐसे तत्त्व-ज्ञानी— **'चित्ते कृपा, समर-निष्ठुरा'** स्थूल-दृष्ट्या महा-भयावहा किन्तु सूक्ष्म-दृष्ट्या महा-सुन्दरी भगवती महा-काली के रूप को सुन्दर— अति सुन्दर अवश्य कहेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

सुन्दरता के अतिरिक्त तत्त्व-ज्ञानी और क्या **'मनन'** करते हैं? तत्त्व-ज्ञानियों के अनुसार वह परापर लोगों अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र— इन **त्रि-महा-देवों की भी 'ईश्वरी' या 'स्वामिनी'** है। इतना ही नहीं, वह जहाँ **'आत्मा'** के उद्धार के **महा-चैतन्य-त्रय की स्वामिनी** है, वहाँ वह **'आत्मा'** के विनाश के **असुर-राट्-त्रय-रूप— काम, क्रोध और लोभ** की भी स्वामिनी अर्थात् सञ्चालन-कर्त्री है। इसी से उक्ति है कि सत् और असत्— दोनों की जो शक्ति है,

वह इसी की है। इस अवस्था में वह **'अचिन्त्य'** हो जाती है। इस **'अचिन्त्य'** की स्तुति क्या और कैसे हो? इसके अतिरिक्त जो जगत् (व्यष्टिं और समष्टि दोनों) का **स्रष्टा, पालक और लय करनेवाला** है, वही जंब उसकी **'योग-निद्रा'-वश निष्क्रिय** हो रहा है, तब उसकी अप्रमेय शक्ति की **'पूर्ण स्तुति'** असम्भव है। फिर वह **ब्रह्मा, विष्णु और ईशान की जननी** अर्थात् कारण है और वे तीनों कार्य हैं। अतएव जिस प्रकार **'कार्य'** के द्वारा **'कारण'** की स्तुति पूर्णतया नहीं हो सकती है, उसी प्रकार **ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र द्वारा 'पूर्ण स्तुति'** असम्भव है। तो भी काम की बात तो कहनी ही है। काम की बात या **'प्रार्थना'** यह है कि **मधु और कैटभ को मोह या वश में लाओ, जगत्-स्वामी विष्णु या आत्मा का उद्बोधन करो,** जिससे इन दोनों से रक्षा हो।

इस प्रकार के पर्याप्त **'मनन'** या **'चिन्तन'** से क्या होता है? इससे **'आत्मा का उद्बोधन'** होता है और मन के सङ्कल्प - विकल्पात्मक कार्यों का नाश होता है। इस भाव की द्योतक **'सप्तशती'** की यह उक्ति है कि **'अव्यक्त-जन्मा ब्रह्मा की आँखों पर विष्णु के नेत्र, नासिका, बाहु, हृदय आदि को छोड़ योग-निद्रा जा बैठी।'** यही **'वेदान्त'** के शब्दों में **'मनो-नाश'** कहा गया है। **'महा-माया'** की इस प्रक्रिया का एक दूसरा महत्त्व-पूर्ण फल यह है कि **'प्राण'-क्रिया** के मुख्य पाँचों स्थान— **१ नेत्र, २ नासिका, ३ बाहु, ४ हृदय** और **५ उर** (फेफड़ा) निष्क्रियता से निर्मुक्त हो जाते हैं और **'प्राण-सम्वर्धन क्रियाएँ'** सम्पादित होने लगती हैं।

'मनन'-प्रक्रिया के पूरी हो जाने पर **'निदिध्यास'** या **'साधना'** की प्रक्रिया आरम्भ होती है। **'संशय'** के नाश के पश्चात् अर्थात् **'कर्त्तव्य'** और **'अकर्त्तव्य'** का ज्ञान हो जाने पर ही **'साधना-पथ'** निश्चित होता है। जब तक **'संशय'** है, **'विश्वास'** हो नहीं सकता और **'विश्वास'** के बिना **'कर्म'-प्रवृत्ति** नहीं। **'विश्वास'** दिलानेवाला **'सद्-गुरु'** है। **'अकृतोपासक'** अर्थात् जिन्होंने उपासना का एक अङ्ग भी पूरा नहीं किया है, उनके लिए बाह्य **'भौतिक गुरु'** हैं, परन्तु जो **'पर्याप्त उपासना'** कर चुके हैं, उनका **'गुरु'** या पथ-प्रदर्शक उनकी **'अन्तरात्मा'** ही होती है। **'अन्तरात्म-गुरु'** का निर्देश व्यक्त नहीं है। इसको **'मूकादेश'** कहते हैं। आंग्ल भाषा में इसको 'इण्टूयूशन' कहते हैं। **'ब्रह्मा'** या **'नभ्य-मन'** का गुरु यही **'अन्तरात्मा'** होती है।

अब **नभ्य-मनवाले साधक का संशय** दूर हो जाता है। वह यह विश्वास करता है कि **महा-माया भगवती दुर्गा** उसके कोश या दुर्ग में भी रहती हैं, परन्तु इतनी ही **'धारणा'** से साधक को अभीष्ट-सिद्धि नहीं होती। **'धारणा'** के आधार पर प्रयोजनीय क्रिया करने की भी आवश्यकता होती है। तभी **'प्रकृत ध्यान'** हो सकेगा, जिसकी पुष्टि से **'समाधि'** या **'लय'** होगा।

दूसरे शब्दों में, **'धारणा'** के दृढ़ हो जाने पर भी अर्थात् **'सैद्धान्तिक ज्ञान'** प्राप्त करने पर भी **'ज्ञान का परिपाचन'** आवश्यक है। **'ज्ञान परिपाचन-क्रिया'** को **'निदिध्यास'** कहते हैं,

जो भिन्न-भिन्न साधन-क्रम में भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से अभिहित है। **'अपरिपाचित ज्ञान'** फल-दायक नहीं है। **'भक्ति-योग'** का यह ज्ञान कि सब कुछ परमेश्वर का है, अथवा हम सभी उसी के हैं, जब तक मौखिक-मात्र रहता है, तब तक फल-दायक नहीं होता। फल-दायक होता है तब, जब हम इस ज्ञान के अनुसार काम करते हैं। **'कर्म-योग'** में भी, जब हम उसी के लिए काम करते हैं, तब फल मिलता है। **'ज्ञान-योग'** में भी यही बात है। **'सोऽहम्'** कह देने से ही हम ब्रह्म नहीं हो जाते। संक्षेप में व्यावहारिक क्रिया-सम्पादन करने से ही **'ब्रह्मत्व'** प्राप्त होता हैं, जिसमें **'अभ्यास'** की आवश्यकता होती है। **'अभ्यास'** करना ही **'निदिध्यास'** है।

'निदिध्यास' से जीवात्मा को **'सिद्धि का मन्त्र'** मिल जाता है और तब **जीवात्मा-रूपी जनार्दन,** जल से एकार्णवा **पृथ्वी अर्थात् पृथ्वी-तत्त्वात्मक 'मूलाधार-चक्र'** से ऊपर जल-तत्त्वात्मक **'स्वाधिष्ठान-चक्र'** पर अपनी **'प्राण-पुरुष कुण्डलाकार-शक्ति'** को ले जाता है। यहाँ ऊपर उठने के लिए वह **'ब्रह्म-ग्रन्थि'** को **अभ्यास द्वारा 'भेदन'** करता है तथा जीवात्मा-रूपी जनार्दन को यह ज्ञात हो जाता है कि मैं ही **'भगवान्'** अर्थात् **'षडैश्वर्य'-सम्पन्न** हूँ, मैं ही **'हरि'** हूँ अर्थात् **'त्रि-ताप'** का हरनेवाला या दूर करनेवाला हूँ? मैं ही **'विभु'** या **'प्रभु'** हूँ अर्थात् अपना स्वामी हूँ। मैं ही अपना **'भाग्य-विधाता'** हूँ, मैं ही अपना **'मित्र'** हूँ और 'शत्रु' हूँ। मैं ही **'बाहु'** अर्थात् प्रति-रोध शक्ति— **'बाध + उणादि धकारो हकारे परिवर्तितः'** से **'प्रहरण'** अर्थात् **निवारक** हूँ। तात्पर्य कि मुझमें ही वह शक्ति है, जिससे अपने शत्रुओं को पराजित कर सकता हूँ।

उक्त धारणा के आधार पर **जीवात्मा-रूपी विष्णु** पाँच सहस्र वर्ष बाहु-युद्ध करते हैं। यहाँ प्रश्न उठते हैं कि बाहु-युद्ध एक से या दोनों से, एक ही समय या पारा-पारी दोनों से? फिर पाँच हजार वर्ष ही क्यों, इससे कम या अधिक क्यों नहीं? इस रहस्य को समझने के लिए इसकी कुञ्जी चाहिए। इस कुञ्जी के खो जाने से ही आज बुद्धि-वादी वेदों की, तन्त्रों की, पुराणों की मखौल करते हैं और शास्त्र-प्रमाण-वादी ऊपर की तह तक ही रह जाते हैं। अस्तु, यह **बाहु-युद्ध—** कुश्ती की हाथा-पाई नहीं है। हाथा-पाई दो से नहीं, एक से ही होती है।

अतएव **बाहु-युद्ध** से जैसा पूर्व कह आए हैं, **'प्रतिरोध-शक्ति के अभ्यास'** का तात्पर्य है। **'प्रतिरोध-शक्ति'** से **'मनः-प्रतिरोध-शक्ति'** और **'प्राण-प्रतिरोध-शक्ति'—** दोनों का बोध है। अगर केवल **'मन'** का अथवा **'प्राण'** का प्रतिरोध कहा जाए, तो यह ठीक न होगा। क्योंकि **'मन'** और **'प्राण'** का अविना-भाव-सम्बन्ध है। **'प्राण'** और **'मन'** दोनों के निरोध की आवश्यकता है। केवल **'प्राण'** अर्थात् श्वास-प्रक्रिया और **पञ्चेन्द्रिय** (वेदों में इन्द्रियों को भी **'प्राण'** कहा गया है) के निरोध से **'मन'** का निरोध नहीं होता और केवल **'मन'** के निरोध से **'प्राणों'** का निरोध नहीं होता। इसी सिद्धान्त के आधार पर **'श्रुति'** कहती है कि **'आत्मा'**

या **'आत्म-ज्ञान'**— बल-हीन द्वारा लभ्य नहीं है— **'नायमात्मा बल-हीनेन लभ्यः।'** अब रही पाँच हजार वर्ष की बात, तो यहाँ **'वर्ष'- पद** से एक विशिष्ट समय की अवधि का तात्पर्य नहीं है। **'वृ-आवरणे+ स-उणादि'** इस व्युत्पत्ति से **वर्ष-पद** का अर्थ है **'आवरण'**। **'आवरण'** एक मत से पाँच प्रकार का होता है। प्रकारान्तर में **'वर्ष'** को **'कोष'** भी कह सकते हैं। **'पञ्च-तन्मात्राएँ'** भी आवरण हैं। फिर हमारी तन्मात्राओं के विकार सहस्रशः हैं। इन हजारों तन्मात्राओं के आवरण तब तक दूर नहीं होते, जब तक युद्ध अर्थात् समर— **'समं राति ददाति इति समरः'** होता रहता है।

'पञ्च-तन्मात्राओं' को विशुद्ध करने में किन-किन प्रक्रियाओं की आवश्यकता होती है? अथवा, क्या करना पड़ता है? इसका उल्लेख ग्रन्थों में नहीं है क्योंकि इन प्रक्रियाओं की शिक्षा लिखी नहीं जा सकती। ये प्रक्रियाएँ प्रत्यक्ष-रूप से सिखलाई ही जा सकती हैं।

अब आगे के वृत्तान्त पर ध्यान दें। प्रारम्भिक साधन के पूर्ण होने पर अथवा जीवात्मा या भूतात्मा की अन्तः-शक्ति की पर्याप्त सम्वर्धना से दोनों प्रारम्भिक **'आसुरी भाव'** मोहित हो जाते हैं। तात्पर्य कि **आसुरी भाव-द्वय** अत्यन्त दुर्बल हो जाते हैं। यह **'सम्मोहनी विद्या'** **'श्री-क्रम'** में **'सर्व-संक्षोभिणी मुद्रा'** के नाम से जानी जाती है। इसी से **'त्रैलोक्य-मोहन'** नाम के **'प्रथम आवरण'** का भेदन होता है। **'आवरण-भेदन'** **'तान्त्रिक पूजन'** का लक्ष्य है।

आवरण-भेदन होने पर पूर्णा संक्षोभित हो **'मधु'** और **'कैटभ'** दोनों वस्तुतः **'वर'** माँगने को नहीं कहते, प्रत्युत स्वयं **'वर'** की याचना करते हैं। हम भी अतिशय क्षोभित हो जीने की इच्छा नहीं करते। त्रैलोक्य-विजयी रावण ने भी आखिर यही चाहा था। **'मरण का वरण'** करके ही जगदम्बा सीता का अपहरण किया। देखिए, **चन्द्र कवि** कृत **'मिथिला रामायण'** में रावण की उक्ति—

'कहिया मरण राम पर हयत। माया-पाप काय छटि जयत।।'

ऐसा ही आन्तरिक उद्देश्य **असुर कंस** का भी था। मधु-कैटभ **'वर'** देना चाहते हैं या यों कहें कि **'वर'** माँगते हैं— **'केशव'** से। **'केशव'-पद** का प्रयोग भी रहस्य-मय है। **'केशव'-शब्द** अपना एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। **'केशव'**— 'के— **ब्रह्मणि** + शवः— **लीनः**।' **'केशव'-शब्द** के एक से अधिक व्युत्पत्तियों के अनुसार अनेक अर्थ हैं। प्राथमिक ब्रह्मानन्दावस्था की प्राप्ति करने पर ही जीवात्मा को **'केशव'** कहा जाता है।

मधु-कैटभ की माँग भी रहस्य-मय होने के कारण मनन करने योग्य है। वे माँगते हैं कि जहाँ पृथ्वी हो, वहाँ हमारी मृत्यु हो। उनकी उक्ति में **'सलिल'-पद** सार-गर्भित है। यहाँ **'सलिल'** से जल का बोध नहीं है, अपितु **'चञ्चलता'** का बोध है और रहस्यार्थ है कि जल-तत्त्वात्मक **'स्वाधिष्ठान-चक्र'** से ऊपर **नभ्य-केन्द्र** या **'मणिपुर-चक्र'** में, जहाँ मन और प्राण भी चञ्चलता से रहित हो जाते हैं।

ऐसी स्थिति में, **'मधु'** और **'कैटभ'** मारे जाते हैं— **'जघन'** पर। **'जघन'** से जङ्घा का

तात्पर्य नहीं है। **'जघन'-पद** भी अनेकार्थ-वाचक है। ऋषियों ने जो कहा है, उसी अर्थ में हमको लेना है। उनका कहना है कि **'जघन'** नाम **'प्रयाग'** का है— **'प्रयागं जघन - स्थानमुपस्थमृषयो विदुः'**। फिर **'प्रयाग'** से **'प्रयाग नगर'** का बोध नहीं है। **'एकार्णवा'** में अर्थात् सृष्टि से पहले **भौतिक प्रयाग नगर** का नामोनिशान भी नहीं था। **'प्रयाग'** का अर्थ है कि जहाँ प्रकृष्ट-रूप का **'याग'** या **'यज्ञ'** हो। **'यज्ञ'** तो अनेक प्रकार के हैं, इनमें **'प्रकृष्ट'** या सर्व-श्रेष्ठ कौन-सा यज्ञ है, यह देखना है। ज्ञान-योगी **'ज्ञान-यज्ञ'** को सर्व-श्रेष्ठ कहते हैं और क्रिया-योगी **'प्राण-यज्ञ'** को। ब्रह्माग्नि में प्राणों की आहुतियाँ देकर **'प्राण-यज्ञ'** होता है। यहाँ तक कहा गया है कि अन्य प्रकार के **'होम'** या **'याग'** नाम-मात्र के हैं। यथा—

न होम 'होम' इत्याहुः, समाधौ तत्तु भूयते। ब्रह्माग्नौ हूयते प्राणं, होम-कर्म तदुच्यते।।

'गीता' के शब्दों में यह **'याग'— प्राण-रूप ब्रह्म में प्राणों का हवन** है— **'प्राणान् प्रांणेषु जुह्वति'**। अब **'प्रयाग'** है कहाँ? यह है **त्रिवेणी - स्थल** अर्थात् **गङ्गा, यमुना और अन्तर्वाहिनी सरस्वती का सङ्गम-स्थल**। ये तीनों हमारी— **१ इड़ा, २ पिङ्गला** और **३ सुषुम्ना** नाड़ियाँ हैं। जब तक **'गङ्गा'** और **'यमुना'** में बारी-बारी प्राण-वायु बहता है, **प्राणों की चञ्चलता** रहती है। प्राणों की **चञ्चलता** तभी जाती है, जब **प्राण-वायु 'सुषुम्ना'** में जाता है। इसी का नाम है **'प्रयाग-वास'**।

उक्त स्थान पर अर्थात् उक्त अवस्था में **'चक्र'** अर्थात् **चक्राकार सुन्दर ज्ञान या प्रक्रिया** से इन दोनों का सिर काटा जाता है। पूर्व के सिद्ध योगी इस विद्या को जानते थे। तभी वे लोगों को जिलाते और भस्म करते थे।

अन्त में इतना ही कहना है कि हम **'सप्तशती'** के **'प्रथम चरित'** का पाठ कर समझ लेते हैं कि **'मधु-कैटभ का नाश'** हो गया, पर नहीं, हमारे **'मधु-कैटभ'** तो जीते-जागते हमारे **'मन-रूपी ब्रह्मा'** को ग्रसने को तैयार हैं, जिससे हमारी यह दयनीय दशा है! **'रावण-वध'** पर क्या ऐसा ही नहीं कहा गया है। देखिए, राधेश्याम की उक्ति—

मुनि बोले जग को अभी, मिला नहीं विश्राम।
अभी हुआ ही है कहाँ, रावण का वध राम।।
माया का सागर चहुँ दिशि है, उसमें शरीर यह 'लङ्का' है।
अभिमान का 'रावण' बैठा है, जो बजा रहा निज डङ्का है।।
है स्वार्थ का इसमें 'मेघनाद', आलस है 'कुम्भकरण' भगवान्।

अतः इसी प्रार्थना को दुहराते हुए हम भी **माँ महा-माया** से प्रार्थना करें कि हमारे भी **मधु-कैटभ का वध** करवाओ, जिससे हम संशय-रहित होकर **सच्चे शाक्त— शक्ति-उपासक** हो सकें।

महिषासुर-बध-रहस्य

महर्षि मार्कण्डेय अपने शिष्य मुनि क्रोष्ट को ऋषि मेधस् का शिक्षण अर्थात् **''द्वितीय साधन-सोपान'** बतलाते हैं। किस ढङ्ग का यह शिक्षण है, यह आदि में ही कहा गया है। कथा यह है—

''......पूर्व-काल में पूरे एक सौ वर्ष तक पुरन्दर ने स्व-अधीनस्थ देव-गण-सहित महिष-संज्ञक महाऽसुर से युद्ध किया। यह **'देवासुर - संग्राम'** के नाम से अभिहित है। इस युद्ध में देव-गण पराजित हुए और महिष इन्द्र के पद को छीनकर उनके सिंहासन पर बैठ गया। देव-गण पराजित होकर पद्म-योनि प्रजापति के नेतृत्व में वहाँ गए, जहाँ ईश (शिव) और गरुड़-ध्वज (विष्णु) थे। वहाँ जाकर उन दोनों को देव-गणों ने अपनी पराभव-गाथा सुनाई और महिष द्वारा सूर्य, इन्द्र, अग्नि, अनिल, इन्द्र, यम, वरुण और अन्य देवताओं को पद-च्युत कर, इनके पदों पर स्वाधिष्ठान कर लेने तथा स्वर्ग से निकाले जाने से पृथ्वी पर मर्त्यों के समान भटकने की बात भी कही। अन्त में यह भी कहा कि **'हम अब आप दोनों के शरणागत हैं। उस अमरारि के वध का उपाय करें.....।''**

'छान्दोग्य-भाष्य' में उक्त **'देवासुर-संग्राम'** के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है कि देव कौन, असुर कौन और यह संग्राम क्या है— **'देवा दीव्यते द्योति-नार्थस्य शास्त्रोद्भासित इन्द्रिय-वृत्तयः, असुरास्तिद् विपरीताः संग्राम कृत्वन्तः। शास्त्रीय-प्रकाश-वृत्त्यभिभावनाय प्रवृत्ताः स्वाभाविक्यस्तमो - रूपा इन्द्रिय-वृत्तयोऽसुरः। तथा तद्-विपरीताः शास्त्रार्थ-विषय विवेक-ज्योतिरात्मानो देवाः स्वाभाविक तमो-रूपा**

सुरभि-भवदाय प्रवृत्ताः इत्यन्योऽन्याभिभवोद् रूपः संग्राम इव सर्व-प्राणिषु प्रति-देहं देवासुर-संग्रामोऽनादि-काल प्रवृत्त इत्यभिप्रायः।'

इस प्रकार यहाँ वर्णित **'देवासुर-संग्राम'** का रहस्यार्थ यह है कि पुरा या पूर्व-काल— **विष्णु-ग्रन्थि** या **राजस् वृत्तियों** के नाश से पूर्व (**पुरन्दर— 'पुरं चक्रं दारयतीति पुरन्दरः'**) **ब्रह्म-ग्रन्थि** का भेदन करनेवाले साधक ने स्व-अधीनस्थ देवताओं अर्थात् चेतनाओं की सहायता से महिष से पूरे सौ वर्षों तक का युद्ध किया।

यहाँ **'सौ वर्ष'**-पद एकाधिक अर्थ-वाचक है। प्रचलित अर्थ में इससे मानव-जीवन की अवधि का, जो सौ वर्षों की होती है, बोध है। इसका तात्पर्य यह है कि सारे जीवन युद्ध होता रहता है। श्रीशङ्कराचार्य ने अपने 'छान्दोग्य भाष्य' में कहा है कि प्रत्येक मानव प्राणी के शरीर में **'देवासुर-संग्राम' होता आया है, होता रहता है और होता रहेगा।** फिर, **'वर्ष'**-नाम से आवरण-अर्थ में सौ से दशों इन्द्रियों के दस X दस = सौ अवान्तर भेद-प्रभेदों का बोध होता है। इस अर्थ के अनुसार **'देवासुर-संग्राम'** से **चैतन्य वृत्तियों का परिच्छिन्न-कारक वृत्तियों से सङ्घर्ष** का वोध होता है। चैतन्य वृत्तियों का नेता **'पुरन्दर'** (इन्द्र) है और चेतनाओं को ढँकनेवाला है— रजोगुण-समुद्भव क्रोध-गुण-प्रधान **'महा-सुर महिष'**। राजस वृत्तियों में श्रेष्ठ होने से इसका नाम **'महिष'** पड़ा।

'महिष'-नाम गुण-प्रधान संज्ञा भी है। **'महिष'** या भैंसे में **'क्रोध'**- गुण प्रधान है।

अस्तु, यदि हम उपर्युक्त आध्यात्मिक रहस्य को ध्यान में रखें, तो हम कह सकते हैं कि **'पुरन्दर'** एक पुर या ग्रन्थि का भेदन करनेवाला तैजसात्मा, राजसी आसुरी सर्गो से पराजित होकर, **'पद्म-योनि प्रजापति'** अर्थात् नभ्य मन की सलाह से जाता है। वह जाता है वहाँ, जहाँ ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति के द्योतक **विष्णु** और **शिव** का सम्मिलित क्षेत्र है। इसके पूर्व केवल 'इच्छा'-शक्ति या 'मनन'-शक्ति से संशयोत्पादक आसुरी सर्ग **मधु-कैटभ** से रक्षा हुई थी। अब यहाँ संज्ञान-शक्ति क्रिया-शक्ति की आवश्यकता होती है, जिसके बिना काम नहीं चल सकता। प्रकारान्तर में, ऐसा भी कह सकते हैं कि **'सप्तशती'** का **'प्रथम सोपान'** है— **'मन्त्र-योग'** का और **'द्वितीय'** या **'मध्यम सोपान'** है— **'हठ-योग'** का। **'हठ'** नाम है, शिव-शक्ति-मिलन का। 'क्रिया-योग'-क्रम की भाषा में इसको **सूर्य-शक्ति** और **चन्द्र-शक्ति** का योग कहते हैं। यही है, **'तन्त्र'**-प्रतिपादित **'वीर-भाव'** की साधना।

अब **'क्रोध'** के कारण **'पुरन्दर'** की मुख्य सप्त-चेतनाऽधिष्ठात्री शक्तियाँ भी पराजित हुई अर्थात् आवृत हुई, इसकी विवेचना भी करनी है। **'सप्त'** या सात की संख्या भी ध्यान देने योग्य है। वेदों में **'अग्नि'** अर्थात् चेतन प्राण की सात जिह्वाएँ कही गई हैं। ये सात चेतनाएँ हैं। इन्हीं के द्योतक हैं— **१ सूर्य, २ इन्द्र, ३ अग्नि, ४ अनिल, ५ इन्दु, ६ यम** और **७वरुण।** इन सातों के परिचय से पूर्व यह उल्लेखनीय है कि **'महिष'** के इन्द्रत्व-लाभ की बात दो बार क्यों कही जाती है। आदि ही में **'महिष'— 'इन्द्र'** हो गया, ऐसा लिखा है (देखिए,

श्रीदुर्गा-सप्तशती का दूसरा अध्याय, मन्त्र २) फिर छठे मन्त्र में सप्त देवताओं में द्वितीय नाम **'इन्द्र'** का आता है। इसका कारण यह है कि प्रथम बार **'इन्द्र'** का अर्थ है **चेतनाओं का स्वामी— 'इन्दतीति इन्द्रः'** और दूसरी बार **'इन्द्र'**-पद के प्रयोग से सब **दिशाओं के स्वामीत्व** का बोध है।

यहाँ यह भी समझना है कि **'दिशा'**-पद से पूर्व-दक्षिण आदि चारों दिशाओं (प्रकारान्तर में दशों दिशाओं) का तात्पर्य नहीं है। पूर्वादि दिशाएँ स्थान-निर्णयार्थ गोलाकार भू-मण्डल में कल्पित हैं। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु का **'दिक्-धर्म'** है। यह ऋग्वेद-प्रतिपादित **'ऋक्-शक्ति'**-जनित है। यदि यह धर्म न रहे, तो हमको वस्तु का अनुभव ही न हो। इस धर्म-विशेष को आधुनिक विज्ञान में आज शृङ्खला-धारक (पावर आफ कानफिगरेशन) कहते हैं। अतः **'महिष'** ने **'इन्द्र'** को पद-च्युत कर इस धर्म को भी शक्ति-हीन बनाया, इसका बोध होता है।

अब सातों चेतनाओं के द्योतक सूर्य, इन्द्र आदि से क्या बोध होता है, यह देखें—

(१) **'सूर्य'**— चैतन्य प्रकाश-शक्ति रखनेवाला है। **'सूर्य'**— गुणाधार संज्ञा है। यह **'सरण'** अर्थात् चलनेवाला है, इसलिए यह **'सूर्य'** कहलाता है। इसकी प्रकाशात्मिका शक्ति विस्मय-कारक गति से चलती है। आधुनिक विज्ञान में इसकी गति प्रति सेकेण्ड प्रायः ८६,००० मील की कही जाती है। यह तो भौतिक वैज्ञानिक क्रम की बात है।

दार्शनिक क्रम में **'सूर्य'** का अर्थ है, प्रेरणा करनेवाला— **'सुवति प्रेरयति इति सूर्यः'** अर्थात् **बुद्धि या विवेक-शक्ति।** व्यष्टि में **'सूर्य'** से **'प्राण'** का बोध है। **'प्राण'** जब **'असुर'** से आवृत्त हो जाता है अर्थात् उसके वश में आ जाता है, तो **'प्राण-धारा'** में व्यतिक्रम आ जाता है और वह आसुरी भाव में बहने लगता है। फिर **'सूर्य'** को **ग्रह-राज** कहा जाता है। जब **ग्रह-राज** में व्यतिक्रम आ जाता है, तो अन्य ग्रहों में भी गड़बड़ी आ जाती है। **'ग्रह'** का अर्थ है, जो ग्रहण करे। ग्रहण करनेवाले हैं— **'प्राण'** और **'मन'।** इन दोनों पर बुरा असर कब पड़ता है? जब ये दोनों दूषित हो जाते हैं और ये ही दोनों जब **दैवी प्रकाश** से उद्भासित रहते हैं, तो किसी भी कारण से इन पर बुरा असर नहीं पड़ता। इस प्रकार **'सूर्य'** पर **'महिष'** ने अधिकार जमा लिया, इससे यह बोध होता है कि **'प्राण'** और **'मन'** कलुषित हो गए।

(२) **'इन्द्र'**— दिक्-शक्ति का अधिष्ठात्री देवता है। यह जब **'महिष'** के वश में हो जाता है, तो यह समझना चाहिए कि **'स्वरूप का नाश'** हो गया।

(३) अग्नि— 'अङ्गति विवेचनं करोतीति अग्निः'— अर्थात् विवेक की चेतनता। यह वैगुण्य या विधर्म को दग्ध करता है। इस हेतु इस दाहक-शक्ति-शील पदार्थ को **'अग्नि'** कहते हैं। यह जब अपने स्वरूप में रहती है, तब **'मल'** को जलानेवाली शक्ति के रूप में अपना कर्त्तव्य करती है। अन्यथा, पर-तन्त्र होने पर विपरीत कार्य करती है अर्थात्

'आत्माकार-वृत्ति' को ही जला देती है। यह तो हुई दार्शनिक या **'ज्ञान-काण्ड'** की बात। **'क्रिया-योग'** या **'कर्मकाण्ड-क्रम'** में यह मलों से रक्षा करनेवाली **'प्राण-शक्ति'** को ही जला देती है, जिससे मलों की वृद्धि होती है और जीव पतन-गर्त्त में फँसता जाता है।

(४) अनिल— 'अन् + इलट्, अनत्ति श्वसत्ति अनेन इति अनिलः'— इससे उस शक्ति का बोध है, जिससे श्वास-प्रश्वास की क्रिया सम्पादित होती है। इस शक्ति के दो कर्त्तव्य हैं— एक **ग्रहण** और दूसरा **निःक्षपण।** इसकी अधिष्ठात्री जब तक देवता है, तब तक इससे वाञ्छनीय का ग्रहण और अवाञ्छनीय का निःक्षेप होता रहता है। पर **'महिष'** के वशीभूत हो जाने पर विपरीत क्रिया होती है अर्थात् अवाञ्छनीय का ग्रहण और वाञ्छनीय का निःक्षपण।

(५) इन्दु से स्निग्ध-कारक पदार्थ का बोध है। इसी की वैदिकी संज्ञा **'सोम'** है, जो जीवन या प्राण के जनन-पोषण पदार्थ-त्रय में से एक है। विज्ञान कहता है कि **प्रकाश, उष्णता** और **स्निग्धता — 'लाइट, हीट** और **माश्चर'** से ही जीव की उत्पत्ति और स्थिरता है। इन्हीं तीनों के द्योतक — **१ सूर्य, २ अग्नि** और **३ चन्द्र** हैं, जो जगदम्बा के नेत्र कहे जाते हैं। इसी **'इन्दु-शक्ति'** से हमारे **'प्राण'** और **'मन'** स्निग्ध रहते हैं। **महिष** के वश में आने से इसमें विपरीतता आती है, जिससे हमारे **'मन'** और **'प्राण'** उत्तप्त हो जाते हैं और हम **कर्तव्य-पथ से च्युत होकर अकर्त्तव्य करने लगते हैं।**

(६) यम— 'यमयति यामयति इति यमः' से **यम देवता** का, जो जीव के आयु-शेष होने पर शरीर से प्राण को विच्छेद करनेवाले हैं, तात्पर्य नहीं है। ऐसा समझना भ्रान्ति है। यह तो प्राणों को सङ्गठित करनेवाला है। इसी **'यम-शक्ति'** से **'प्राण-शृङ्खला'** बँधी रहती है। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में इससे **बुद्धि-सत्ता** का बोध है, जो मन का यमन या आयमन करती है। घनीकरण का अर्थ **'प्राणायाम'** के अर्थ से भी सिद्ध है। फिर **'योग-शास्त्र'** के **'यम'** और **'नियम'** पदों से भी इसी अर्थ का स्पष्ट बोध होता है। अतएव **'यम'** के **'महिष'** के अधीन हो जाने से जीव की **'यमन-क्रिया में व्यतिक्रम'** आ जाता है, अथवा प्राण और मन घनीभूत नहीं होते— यही बोध होता है।

(७) वरुण— 'व्रियते वृणोति वा इति वरुणः' से दो शक्तिमान् का बोध है— एक **आवरण-कारक,** दूसरा **विवेचना (विवेक) कारक।** इसकी सत्ता सदसद्-विवेचना भी करती है, जब अपने स्वरूप में रहती है। **'महिष'** के अधीनस्थ होकर यह सत्य का आवरण अर्थात् सत्य को हमसे छिपाती है और इस प्रकार यह बुद्धि में व्यतिक्रम ले आती है।

उक्त सातों का संक्षिप्त परिचय यह है कि ये सातों **'प्राण'** हैं। इन्हीं सातों के अवान्तर भेद से **'उनचास प्राण'** होते हैं, जिनको **'उनचास मरुद्-गण'** कहते हैं। (**अ-कार** से लेकर **'ह-कार'** पर्यन्त उनचास अक्षर इन्हीं उनचासों प्राण-वायुओं के संज्ञक हैं। कारण, एक-एक वर्ण एक-एक निर्धारित विशिष्ट प्राण-वायु की गति-शक्ति से व्यक्त व उच्चारित होते हैं।)

आदि में अर्थात् **'सप्तशती'** के पहले चरित में **'ब्रह्म'** अर्थात् **मनःशक्ति** ने कार्य-साधन किया। यहाँ मध्यमावस्था में **ज्ञान-शक्ति** के सहयोग से **क्रिया-शक्ति** कार्य-साधना करती है। अतएव **'ब्रह्मा'** को अगुवा बनाकर देव-गण **'महा-देव'** और **'विष्णु'** के शरणापन्न होते हैं। **ईश** और **गरुड़-ध्वज**, जिनका पूर्ण परिचय यहाँ नहीं दे सकते, एक जगह तो रहते नहीं, जैसा पुराणों का कहना है। फिर इन दोनों की सम्मिलित उपस्थिति भी विचारणीय है। साधनारम्भ में **'ब्रह्म-ग्रन्थि-भेदन'** हुआ है। अब **'विष्णु-ग्रन्थि-भेदन'** का साधन हो रहा है, जिसमें प्राण-शक्ति कुण्डली **'मणिपुर'** और **'अनाहत'** नाम के दोनों चक्रों में काम करती है। **'विष्णु'** अर्थात् **'ज्ञान'-शक्ति** का स्थान **'अनाहत'** या **'हृदय'** है। यह **'ईश'** अर्थात् **'क्रिया'-शक्ति** का भी स्थान है।

'ज्ञान' और **'शक्ति'** में अविना-भाव का सम्बन्ध है। तात्पर्य कि जहाँ **ज्ञान**, वहीं **सत्ता** या **शक्ति** और जहाँ **शक्ति**, वहीं **ज्ञान**। इसी से शास्त्रों में इन दोनों शक्तियों के मूर्ति-स्वरूप-द्वय **'विष्णु'** और **'शिव'** में पूर्ण अभेद कहा गया है। फिर **शक्ति** तो हर जगह है। **'मन'** के साथ भी **शक्ति** काम करती है। इसीलिए कहा गया है कि **ब्रह्मा**, **विष्णु** और **महेश** तीनों एक हैं— **'एक-मूर्तिस्त्रयो देवा, रुद्रो विष्णु-पितामहाः।'** हाँ, अपने-अपने क्षेत्र में अपनी-अपनी प्रधानता है। **'विष्णु'** और **'शिव'** — दोनों की शरण में जाने का अर्थ है— ज्ञान-पुरस्सर क्रिया या **क्रिया-योग** के पथ पर आरूढ़ होना। इसी को **'निदिध्यास'** कहते हैं, जो **'मनन'**- प्रक्रिया के पश्चात् ही प्रारम्भ होती है। इसे **'हठ-योग'** में **'क्रिया-योग'** और **'तन्त्र'** में यह **'वीर-साधन'** कहा गया है। इसके पूर्ण होने पर **'राज-योग'** का साधन है, जिसको **'ज्ञान-योग'** कहते हैं और **'तन्त्र'** में **'दिव्य साधन'** कहा जाता है, जिसकी चर्चा आगे **तृतीय खण्ड** में होगी।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्राथमिक **'मन्त्र-योग'** या **'भक्ति-योग'** माध्यमिक **'क्रिया-योग'** या **'हठ-योग'** और साधनान्तिक **'ज्ञान-योग'** या **'राज-योग'** भिन्न-भिन्न नहीं हैं, एक ही योग की विशिष्ट कक्षाएँ हैं और परस्पर-सम्बद्ध हैं। दूसरे शब्दों में **'मनन'** या **'मन्त्र-साधन'** की आवश्यकता का कभी अन्त नहीं होता अर्थात् माध्यमिक और आन्तमिक साधन-द्वय में भी इसका साधन चलता रहता है। इसी प्रकार **'क्रिया-योग'** भी **मनन-योग** में और **ज्ञान-योग** में आवश्यक है। फिर अन्तिम-योग **'राज-योग'** या **'ज्ञान-योग'** भी शेष दोनों योग-साधनों में आवश्यक है। कारण, बिना **'ज्ञान'** के न **'मनन'** है और न **'क्रिया-योग'-साधन** ही सम्भव है।

माध्यमिक साधन का आश्रय या आधार है— **'हठ-योग'**। **'हठ-योग'** के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है। साधारणतया हम लोग **'हठ-योग'** से नेती, धौती आदि **शरीर-संशोधन-क्रिया** ही समझते हैं। साथ ही हठ-पूर्वक वायु-निरोध-प्रक्रिया को **'हठ-योग'** कहते हैं, परन्तु यह हमारी भ्रान्त धारणा है। नेती, धौती आदि, जो नाड़ी-संशोधनार्थ क्रियाएँ हैं, योगाङ्ग हैं, **'योग'** नहीं। ये **'योग के अङ्ग'** इसलिए हैं कि इनसे शारीरिक स्वास्थ्य बना रहता है, जिससे **'योग-साधन'** में कोई रुकावट नहीं आती। रही बात बल-पूर्वक वायु-निरोध या **'प्राणायाम'**

की। यह भी एक भ्रान्ति है। बल या हठ-पूर्वक वायु के निरोध से बुरा फल होता है। इससे स्वास्थ्य विगड़ता ही है, बनता नहीं। तात्पर्य कि अँगुलियों से नासा-पुटों को दबाकर **'प्राणायाम'** करने से शरीर रोग-ग्रस्त हो जाता है। इससे दिमाग भी खराब होता है। इसी हेतु शास्त्रों में कहा गया है कि यह **'बहिः प्राणायाम'**, जो अँगुली और अंगुष्ठ से किया जाता है, अनुचित होने से त्याज्य है—

बाल-बुद्धिभिरङ्गुल्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिका-छिद्र ह्यवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते, स खलु शिष्टैस्त्याज्यः।।

'श्रुति' भी कहती है कि **'वायु'-तत्त्व** हाथी, बाघ आदि उन्मत्त जानवरों से भी अधिक उन्मत्त है। जब वे जानवर बल-पूर्वक वश में नहीं किए जा सकते, तो फिर वायु कैसे हो? इन जानवरों, जैसे वायु को बहुत शनैः-शनैः वश में करना चाहिए। इस कौशल का नाम ही है **'योग'— 'योगः कर्मसु कौशलम्।'** (गीता)

'हठ-योग' की उक्त संक्षिप्त विवेचना के साथ ही **'तन्त्रोक्त साधना'** की चर्चा भी आवश्यक है। **'योग'** की तरह **'तन्त्र'** भी **'कर्मसु कौशल'** अर्थात् कला-बोधक पद है। जिस प्रकार किसी एक स्थान पर पहुँचने के असंख्य पथ होते हैं, उसी प्रकार किसी एक कार्य-साधन के लिए असंख्य कलाएँ है। जिसकी जैसी योग्यता एवं रुचि होती है, वह उसी तरीके की साधन-कला के माध्यम से कार्य करता है। शास्त्रों का कहना है कि **'हठ-योग'** है— शिव और शक्ति का योग या मेल। **'हठ-योग'-शास्त्र,** चन्द्र (बाँयी) और सूर्य (दाहिनी) नाड़ियों का मिलन बतलाता है, जिससे प्राण-वायु **'सुषुम्ना'** में जाकर स्थिर हो जाती है। **तन्त्रों** में ऐसी ही मिलती-जुलती प्रक्रिया है, जो अपने ढङ्ग की निराली है। खेद की बात यह है कि इसके निराले ढङ्ग को लोग समझ नहीं पाते और तथा-कथित तान्त्रिक-गण खुद ही गिरकर हास्यास्पद बनते हैं। साथ ही, शास्त्र को, मार्ग को भी कलङ्कित करते हैं।

'तन्त्र-शास्त्र' में **'हठ-योग'** या **'शिव-शक्ति-योग'** की जो पद्धति है, इसको **'परापरा पूजा'** कहते हैं। इसमें **'पञ्च-मकार का प्रयोग'** होता है। **'पञ्च-मकार'**— विशेषतः प्रथम मकार अर्थात् **'मद्य'** ग्रहण करने की योग्यता कितनी कठिनता से होती है, यह लोग न समझते ही हैं और न समझने की कोशिश ही करते हैं। सच्चे जिज्ञासु हैं कहाँ, जो इसकी खोज करें। हैं तो प्रायः सभी पशु-भावापन्न जिनको **'आत्म-साधन'** से बहुत कम सरोकार होता है, केवल क्षणिक इन्द्रिय-सुखों की आवश्यकता होती है। 'खाओ पियो मौज करो'— इसी एक सिद्धान्त के माननेवाले हैं। उनको क्या पड़ी है, जो **'तन्त्र-शास्त्र'** के निर्देशों को समझें और समझ कर उसके अनुसार करें।

सार की बात तो यह है कि **'पञ्च-मकार'** के ग्रहण करने की योग्यता **'क्रिया-योग'** के अनुसार करते-करते ही प्राप्त होती है। तभी हम कह सकते हैं— **'कुल-कुण्डलनी-मुखे जुहोमि।'** अर्थात् हम जब साधन कर **'कुण्डलनी'** या **'प्राण-शक्ति'** को चैतन्य कर उस सोई शक्ति के मुख को खोलें, तभी हम **'पञ्च-मकार'** की आहुति उसमें दे सकते हैं। नहीं तो यह स्वयं खाने-पीने का परम असत्य बहाना मात्र है, जिसका फल भी बुरा होता है। **'पञ्च-मकार'** का

सेवन शारीरिक एवं मानसिक स्फुरत्ता का बढ़ानेवाला है। पर **'पञ्च-मकार'** का अवैध ग्रहण साधन-स्फुरत्ता को नहीं, **व्यसन-स्फुरत्ता** को ही बढ़ाता है; जिससे हम पशु से भी अधः-पतित हो जाते हैं।

संक्षेप में, **'शिव'** और **'विष्णु'** के शरणागत होने से यही बोध होता है कि जीव **ज्ञान-सहित क्रिया-योग का साधन** आरम्भ करता है। यह साधन एक दिन या दो दिन का विषय नहीं है, वर्षों की बात है और इसकी प्रक्रिया का उल्लेख होना असम्भव है। केवल इस साधन का परिणाम ही कहा जा सकता है कि इससे सभी चेतनाओं की ऐसी सम्वर्धना हुई कि एक महती स्फुरत्ता शक्ति का सङ्गठन हुआ। यह **चण्डी — 'चडि कोपे'** अर्थात् कोप-शक्ति के साधन अर्थात् सम्वर्धना से होता है। यह **'कोप-शक्ति'** कैसी है? यह हम इस तरह जान सकते हैं कि हम जब कुपित होते हैं, तो हममें **स्फुरत्ता की वृद्धि** होती है और **'स्फुरत्ता की वृद्धि'** से हम जो साधारणतया नहीं कर सकते, वह भी कर लेते हैं। इसी से यहाँ **'पुरन्दर पुरुष'** को **'शक्र'** कहा जाता है। कारण अब **'पुरन्दर'— शक्र** ('शक्नोतोति शक्रः) अर्थात् **कार्य-साधन में क्षम** हो जाता है।

'स्फुरता' की वृद्धि से ही साधक-रूपी जीव में तेजो-राशि की ज्वलन्त पर्वत के समान एक मूर्ति बन उठती है। मूल उक्ति में **'पर्वत'**-पद का जो प्रयोग है, वह विशालता मात्र का बोधक नहीं है। **'पर्वत'** का यह भी अर्थ है कि जिसमें या जिसका पर्व अर्थात् खण्ड हो— **'पर्वाणि अस्मिन् सन्ति इति पर्वतः।'**

'तैजस पिण्ड' के तीन पर्व होते हैं। इसको **'मातृका-चक्र'** भी कहते हैं, जिसके बारे में तन्त्रोक्ति है कि **मातृका-चक्र या श्री-चक्र** के तीन खण्ड हैं— **'त्रिखण्डं मातृका-चक्रम्।'** मन्त्रों के सम्बन्ध में भी कहा गया है कि इनके तीन खण्ड होते हैं। श्रीविद्या के पञ्च-दशाक्षरी या षोडशाक्षरी महा-विद्या में तीन कूट या पर्व हैं— **१ वाग्भव, २ काम और ३ शक्ति।** यहाँ प्रकरण के अनुसार अर्थात् **'हठ-योग'-क्रम** के अनुसार इन त्रि-खण्डों का तात्पर्य है— **१ ब्रह्म-ग्रन्थि, २ विष्णु-ग्रन्थि और ३ रुद्र-ग्रन्थि। 'सप्तशती'** में कहा गया है कि इस तेजो-राशि की ज्वाला दिगन्तर में व्याप्त थी। **'दिगन्तर'**-पद के प्रयोग से यही बोध होता है कि पिण्डाण्ड की तेजो-राशि पिण्ड के दिशा-धर्म से भी बाहर चली गई या चली जाती है जो **'योग' की सहज विभूति** है।

अब देखिए, उक्त तेजो-राशि की एक मूर्ति— **नारी-रूप की मूर्त्ति** बनती है। क्यों? पुरुष-योद्धा के रूप में परिणत न होकर कोमलाङ्गी नारी-रूप की मूर्त्ति क्यों? इससे जान पड़ता है कि इसमें भी अनुसन्धान के योग्य रहस्य छिपे हैं। इसका निराकरण इस प्रकार है कि अव्यक्तास्था में समस्त प्रकृति का कोई लिङ्गात्मक रूप नहीं रहता। अवस्था विशेष में ही लिङ्गात्मक रूप आता है। आधुनिक विज्ञान का भी यही सिद्धान्त है कि मूल लिङ्ग **'स्त्री-लिङ्ग'** ही है। **'स्त्री-लिङ्ग'** की इयत्ता में ही जीवन-मण्डल है। **'पुरुष-लिङ्ग'** तो सृष्टि के बाद जीवन के शृङ्खला-बद्ध-करण के सुभीते के लिए लाया गया है।

'वेद' के **'विस्फोट-वाद'** से भी यह सिद्ध है कि यौन सृष्टि से पूर्व **'विस्फोट-सृष्टि'** होती है। कई सौ वर्ष पूर्व इटली देश के कीटाणु-विशेषज्ञ 'स्टैलेन जीनो' ने यह पता लगाया था कि एक प्रकार का कीटाणु अपने को दो भागों में कर एक दूसरे से पृथक् हो एक से अनेक हो जाता है। इनका कहना है कि यह कीटाणु एक 'राड' (डन्डे) की तरह है, जो बीच में पतला होते-होते दो टुकड़े हो जाता है। फिर पता नहीं चलता कि कौन जच्चा है और कौन बच्चा है। इसी प्रकार इस कीटाणु की वृद्धि होती रहती है। **'तन्त्र-शास्त्र'** का भी **आदि सृष्टि-क्रम** के सम्बन्ध में ऐसा ही सिद्धान्त है कि एक चरम बिन्दु 'मिनीमा' से विस्फोट के कारण दो विन्दु हुए— एक **रक्त** और दूसरा **शुक्ल।** इस प्रकार **त्रि-बिन्दु** के मिलन से एक **त्रिकोण** बना, जो त्रि-दिक् शक्ति (तीन 'डाइमेन्शन') धर्म का बना होता है, जिसमें 'चतुर्थ डाइमेन्शन— टाइम डाईमेन्शन' भी अन्तर्निहित रहता है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि **विन्दु,** जिसका विस्तृत रूप **रेखा, वृत्त** आदि है, 'स्त्री'-जाति का ही है या पुरुष-जाति का भी। इसका समाधान इस प्रकार है कि जो स्वतः या दूसरे की सहायता से प्रजनन करे, वही **'नारी'-तत्त्व** है और 'जननी'-पद-वाच्य है। अध्यात्मवाद में इस **स्वतः-सृष्टि** को **इच्छा-सृष्टि** या **दृष्टि-सृष्टि** कहते है। आधिदैविक-वाद में यह **'मानस सृष्टि'** है और भौतिक-वाद में **'विस्फोट-सृष्टि'।** इस **सृष्टि-क्रम** के सम्बन्ध में अनेक मत हैं परन्तु **शाक्त-वाद** का ऐसा ही मत है, इतना निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है।

'श्रीदुर्गा सप्तशती' में तेजः-स्वरूप महा-नारी के अवयवों के सङ्गठन का भी उल्लेख है कि किस-किस देवता के तैजस् से कौन-कौन अङ्ग बना। यथा— **शम्भु** के तैजस् से मुख-मण्डल, **यम** के तैजस् से केश, **विष्णु** के तैजस् से बाहें, **सौम्य** से स्तन-युगल, **ऐन्द्र** से मध्य प्रदेश, **वारुणी** से जङ्घा एवं उरु, **पार्थिव** से नितम्ब-भाग, **ब्राह्मी** से पाद-युगल, **आर्क** से पैर की अँगुलियाँ, **वासवी** (वसु गणों) से हाथों की अँगुलियाँ, **कावेरिक** (कुबेर) से नाक, **प्राजापत्य** से दन्ता-वलि-द्वय, **आग्नेय** से नेत्र-त्रय, **सान्ध्य** (सन्ध्या) से भ्रू-युगल, **अनिल** के तैजस् से कान और अन्य **सभी देवताओं** के तैजस् से सभी कल्याणी चित्त-वृत्तियाँ सङ्गठित हुई।

इस उल्लेख से ऐसा बोध होता है कि हममें किस प्रकार की चेतना कहाँ है। हम साधारणतया यह समझते हैं कि सभी देवी-देवता-गण स्वर्ग में या अपने-अपने लोकों में हमसे ऊपर— पृथ्वी से ऊपर और हमसे बहुत दूर रहते हैं। अगर कोई कहे कि ये अर्थात् **विश्व की सभी चेतनाएँ, सभी शक्तियाँ** हममें भी निवास करती हैं, तो यह सुनकर लोग हँस देंगे। तुरन्त प्रश्न करेंगे कि यदि ये हममें भी हैं, तो हम दुःखी क्यों हैं? साधारण के अतिरिक्त कर्मों में अक्षमता क्यों है? इत्यादि-इत्यादि। इसका उत्तर यह है कि ये चेतनाएँ, ये शक्तियाँ हममें **जाग्रत** नहीं हैं और **सम्वर्धित** भी नहीं है, इसी से काम नहीं करतीं, जिससे फल नहीं मिलता। जब ये **जागती** हैं और सम्वर्धित होती हैं, तभी हमारे आदि शत्रु **'मधु-कैटभ'**, माध्यम शत्रु **'महिष'** और अन्तिम शत्रु **'शुम्भ-निशुम्भ'** नष्ट होते हैं।

तेज-स्वरूपा महा-नारी

तेज-स्वरूपा महा-नारी का सङ्गठन **'शम्भु'**, **'यम'**, **'विष्णु'**, **'सौम्य'**, **'एन्द्र'**, **'वारुणी'**, **'पार्थिव'**, **'ब्राह्मी'**, **'आर्क'**, **'वासवी'**, **'कावेरिक'**, **'प्राजापत्य'**, **'आग्नेय'**, **'सान्ध्य'**, **'अनिल'** और अन्य सभी देवताओं के तैजस से होता है। प्रश्न उठता है कि ये देवता कौन हैं? इनका परिचय क्या है? आइए देखें।

'शम्भु' हैं— **'शिव'**— **'कल्याण-कारक शक्ति'**। इनका स्थान है— **'मुख'** या **'मुख-मण्डल'**। ठीक है, **'मुख-मण्डल'** में ही **आँख** अर्थात् दर्शन या ज्ञान, **कान**— श्रवण-ज्ञान, **जिह्वा**— रसन-ज्ञान है। इतना ही नहीं, **मस्तिष्क** इसी मण्डल में है, जो सभी प्रकार के ज्ञानों का भाण्डार है। इस भाण्डार का **'सङ्गठन' शिव-शक्ति के आराधन** से होता है।

'यम' के तैजस से **'केश-राशि'** सङ्गठित हुई। **'केश'** का अर्थ बाल ही नहीं है। इसका एक अर्थ है क्लेश देनेवाला— **'क्लिश्यन्ति इति केशाः'** और दूसरा अर्थ है— **'बन्धन'**। बन्धन के अर्थ में ही **भगवती आद्या 'मुक्त-केशी'** कही गई हैं— **'क्लिश् विबाधायां बन्धवे वा।'** यहाँ दूसरा अर्थ ग्राह्य है, जिससे यह बोध होता है कि **चित्त-वृत्ति की बाँधनेवाली शक्ति** का सङ्गठन हुआ।

'विष्णु' के तैजस से **'बाँहें'** बनीं या सङ्गठित हुईं। **'बाहु'** से स्थूल हाथ का ही तात्पर्य नहीं है। इससे वहन करनेवाली अर्थात् **पालन करनेवाली शक्ति** का बोध है।

'सौम्य'-तैजस से **'स्तन-युगल'** बने। **'स्तन'** से उस शक्ति का बोध है, जो सर्वदा प्राणों की अवस्थिति की सूचना देती रहती है— **'स्तनति कथयति सूचयति यद्वा स्तनयते शब्दयते।'** यह सूचना **'हृदय-प्रदेश'** से मिलती रहती है। हृदय-प्रदेश की जो विशिष्ट शक्ति है, वह यहाँ स्निग्ध-कारिणी बनी है, जिससे **'प्राण'** स्निग्ध हो बलवान् होता है। **'प्राण'** के बलवान् होने से इसका साथी **'मन'** भी बलिष्ठ होता है, ऐसा बोध है। **'प्राण'** या **'मन'** स्निग्ध रहने से चञ्चल नहीं होते। स्निग्धता से स्थिरता, बलवान होने की सूचक है।

'एन्द्री' तैजस से **मध्य-भाग** बनता है। मध्य-भाग है कमर से लेकर कण्ठ तक। इसके निचले हिस्से को अधोभाग और ऊपर के भाग को ऊर्ध्व-भाग कहते हैं। **'इन्द्र'** से जिस प्रकार **'प्राणों के स्वामी'** का बोध है, उसी प्रकार **'ज्ञानेन्द्रियों के स्वामी'** का भी बोध है। जैसा पूर्व कहा गया है कि ज्ञानेन्द्रियों का भाण्डार **'मस्तिष्क'** है। इस तरह यहाँ **'मस्तिष्क'** की पुनरुक्ति हो जाती है क्योंकि **'शम्भु'** के तेज से **ज्ञानेन्द्रियों— मस्तिष्क** का सङ्गठन हो चुका है, पर नहीं, **मस्तिष्क** की **ज्ञानेन्द्रियों** में और मध्य भाग की **ज्ञानेन्द्रियों** में भेद है। भेद यह है कि इन दोनों की कार्य-प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य करती हैं। दूसरे शब्दों

में, इन दोनों के कार्य-क्षेत्रों में भेद है। **'हेड एण्ड हार्ट'** पद के प्रयोग से भी यही बात सिद्ध होती है। **'हृदय-क्षेत्र'** की **चेतना** सद्यः सक्रिय होती है क्योंकि यह **'प्राण-प्रधान'** होती है और **मस्तिष्क-क्षेत्र** की **चेतना** सद्यः सक्रिय नहीं है क्योंकि यह **'मनः-प्रधान'** है। इससे यही सिद्ध होता है कि **'ऐन्द्री-तेज'** से **मन-सहित प्राणों का सम्वर्धन** होता है।

'वरुण' के तैजस् से **'जङ्घा'** और **'उरु-द्वय'** का सङ्गठन होता है। **'वरुण'**-पद अनेकार्थ-वाचक है। मूलतः **'वरुण'** वैदिक देवताओं में से एक मुख्य देवता हैं। प्रकरण के अनुसार इनका अर्थ लिया जाता है। इनसे **'जल'** अर्थात् **'रस'** की अधिष्ठात्री देवता का तात्पर्य है। वेदों के मत से इनका लोक या निवास-स्थान है— **'उदन्वती'**। समष्टि-रूप में **'उदन्वती'** सौर-मण्डल से ऊपर भी है और पृथ्वी के नीचे भी। इस कथन से यह वोध होता है कि समस्त सौर-मण्डल अर्थात् हमारा ब्रह्माण्ड **'रस-तत्त्व'** से वेष्टित है। **'वरुण'** का अर्थ है वेष्टन-कर्त्ता—**'व्रियते आच्छाद्यते इति वरुणः।'** व्यष्टि-भाव में, वारुणी शक्ति या रस-शक्ति से अधोभाग वनता है या सङ्गठित होता है। ऐसा वेद भी इन शव्दों में कहता है— **'उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु।'**

'पृथ्वी' अर्थात् पृथ्वी-तत्व के तेज से **'नितम्ब'** बना या वनता है। नितम्ब-पद का अर्थ है— निभृत गत (दवा हुआ) चेतनात्मक अवयव। इस पद के दो अर्थ हैं— एक निकृष्ट, जो साधारण साहित्य में प्रचलित है और दूसरा है प्रकृष्ट, जो यहाँ लिया गया है। पहिला अर्थ है— कामुकों का गमन या सम्भोग-इच्छा जो बढ़ाता है— **'निभृतं तम्यते कामुकैः, तम्व गतौ'** और जिस अर्थ में यहाँ प्रयोग किया गया है, वह है परमार्थ-विषयक कामुकों अर्थात मुमुक्षुओं की उत्प्रेरिका कामना। जव तक पर्याप्त हठ-योग की साधना नहीं होती, तव तक **'नितम्ब'**-पद का निकृष्ट अर्थ ही ग्राह्य होता है।

'ब्रह्मा' के तैजस् से **'पाद'** बनता है। **'ब्रह्मा'** सृष्टि के करनेवाले हैं। इनकी शक्ति है— **'गमन-शक्ति'**। यह शक्ति मुख्यतया दो प्रकार की है— एक स्थाणु और दूसरी है विविध प्रकार की गति-शक्तियाँ। दर्शनों में रजो-गुण ही सृष्टि-कारक है, शेष दोनों गुण नहीं। **ब्रह्मा** का वर्ण लाल है, जो रजो-गुण-प्रधान का बोधक है। इस शक्ति के द्वारा पैरों के सङ्गठन से इसी तात्पर्य का वोध है कि चल-शक्तियाँ सुचारु रूप से सङ्गठित हुई, जिससे हठ-योग साधक के प्राण और मन की गतियाँ वैध-गति से ही अर्थात् उचित मार्गों पर ही चलती हैं।

'अर्क' के तैजस् से **'पादांगुलियाँ'** वनती हैं। 'अंगुल'— पद का अर्थ है कि जो संख्या करे या करने में सहायता दे— **'अंगति इति अंगुलिः', अङ्ग + उलिः, उणादि**— शाखा-प्रशाखा से संख्या होती है। अँगुलियाँ हाथ और पैर की शाखा कही जा सकती हैं। **'पैर'** गमन-शक्तियों के प्रतीक हैं। अँगुलियाँ शक्ति-धाराओं की प्रतीक हैं। मनोवैज्ञानिक भाषा में ये मन की सङ्कल्प-विकल्प-रूप धाराएँ हैं। ये वनती हैं— **'अर्क'** की शक्ति से। **'अर्क'**-शब्द का अर्थ है— **'उष्ण करनेवाला'**। ठीक है, **उष्ण** होकर ही किसी वस्तु की शक्ति

फैलती है। यह हम अपने शरीर में रक्त की उष्णता से जान सकते हैं। रक्त ठण्डा हो जाए, तो रक्त-सञ्चालन वन्द हो जाए।

'वसुओं' के तैजस् से दोनों हाथ और इन दोनों की अँगुलियाँ बनती हैं। **पैर** जहाँ गमन-शक्ति या गति-शक्ति के प्रतीक हैं, वहाँ **हाथ** कर्म करने की शक्ति के प्रतीक हैं। कर्म, जिनके द्वारा **'क्रिया-योग'** में अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, आठ प्रकार के कहे गए हैं। **'वसुओं'** की भी संख्या आठ है और उनके तैजस् से **'कर'** या **'कर्म'**-साधन बनते हैं। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में ये आत्मा की अष्ट सम्पत्तियों के प्रतीक हैं— **१ वैराग्य, २ विवेक, ३ शम, ४ दम, ५ उप-रति, ६ तितिक्षा, ७ श्रद्धा** और **८ समाधान।** ये अष्ट सम्पत्तियाँ जिन साधनों से उपलव्ध हों, वे ही **'कर'** पद-वाच्य हैं। **'भक्ति-योग'** क्रम में **वसु-तैजस्** से सङ्गठित कर-द्वय **'नवधा भक्ति'** के अन्तिम आत्म-समर्पण को छोड़ आठों के साधन-रूप हैं।

'कुबेर' के तैजस से **'नासिका'** वनती है। **'कुबेर'** शब्द से वाच्य क्या है? यह देखना है। **'कुबेर'**-पद का अर्थ है, जो धन दे— **'कुम्बति ददाति धनं इति कुबेरः।'** धन क्या है? रुपया-पैसा या हीरा-मोती या जमीन-जायदाद यथार्थ धन नहीं है। एक धन है **'सुख'**, वह भी **'नित्य सुख'**। लोग कहते हैं **'सन्तोष'** सर्व-श्रेष्ठ धन है, पर हमारे मत से **'सन्तोष'** सुख का साधन है। जीव का एक लक्ष्य **'सुख'** ही है। हम भले ही क्षणिक सुख के लिए **चिर या नित्य सुख** की आधार-भूमिका को नष्ट करें, पर अज्ञानी या ज्ञानी— सभी का एकमात्र लक्ष्य है **'सुख'**। शान्ति या ताप से मुक्ति में भी **'सुख'** ही सन्निहित है क्योंकि दुःख के अभाव में **'सुख'** का ही भाव रहता है। **'सुख'** देनेवाली शक्ति को **'कौबेरी शक्ति'** कहते हैं। इसका स्थान उत्तर दिशा में है। इससे तात्पर्य यह है कि यह शक्ति उत्तर मार्ग पर चलने से प्राप्त होती है। मार्ग दो हैं— दाहिना और बाँयाँ। 'वेद' भी यही कहता है। **'दाहिना'** है **'दक्षिण'** और **'वाम'** है **'उत्तर'**। इन दोनों की शास्त्रोक्त संज्ञाएँ हैं— **१ देव-मार्ग** और **२ पितृ-मार्ग।** इसी को **'देव-यान'** और **'पितृ-यानं'** भी कहते हैं। **'देव-मार्ग'** या **'वाम-मार्ग'** से स्वर्ग और ब्रह्म-लोक को जाया जाता है। पर्याप्त साधना रही, तो **'ब्रह्म-लोक'** या **'परम-पद'** पाते हैं। नहीं तो **'स्वर्ग-लोक'** तक ही रह जाते हैं, जहाँ से पुण्य के क्षय होने पर लौट आना पड़ता है। **'दक्षिण मार्ग'** या **'पशु-भाव'** से जाने से **'पितृ-स्वर्ग'** जा सकते हैं, जो **'देव-स्वर्ग'** की अपेक्षा बहुत कम सुख-दायक है और **'नरक'** भी जाते हैं।

उक्त दोनों यानों को **'उत्तरायण'** और **'याम्यायण'** भी कहते हैं। साधारणतः सूर्य की गति-द्वय को **'उत्तरायण-याम्यायण'** कहते हैं, जो वर्ष को दो भागों में विभक्त करते हैं, परन्तु यथार्थतः व्यष्टि के ही दो मार्ग हैं। इस मार्ग-द्वय में गलियाँ भी हैं, जिनकी शास्त्रीय संज्ञा **'वीथी'** है। फिर दोनों से अतिरिक्त एक **मध्यम मार्ग** भी है। 'वेद' उत्तर या **'वाम-मार्ग'** को **'ऐरावत-मार्ग'** भी कहता है और दक्षिण मार्ग को **'वैश्वानर'** कहता है तथा **मध्यम मार्ग** को **'जरद्गव'** कहता है। ये **मार्ग-त्रय** और इन प्रत्येक की **तीन-तीन वीथियाँ** जिस प्रकार व्यष्टि में हैं, उसी प्रकार समष्टि में भी हैं। **'हठ-योग-क्रम'** में प्राणों का ही साधन मुख्य है, जो नाड़ियों

के हिसाब से किया जाता है। इसी की द्योतक है नासिका, जिसके द्वारा **प्राण-वायु** की गति है। **प्राण-वायु** की इसी गति को जिस मार्ग से और जिस वीथी से ले जाकर और बाहर निकाल कर साधना की जाती है, उसी के अनुसार इष्ट की प्राप्ति होती है। **'कौवेरी शक्ति'** से संवर्धित **प्राण-गति** की साधना विशेष फल-प्रद है। इसका यही तात्पर्य है।

'प्राजापत्य' तैजस् से **'दन्तावलियाँ'** बनती हैं। **'दन्त'**-पद का अर्थ है उप-शमन करनेवाला : **'दमु उपशमे, दाम्यति इति दन्तः।'** जो दाँत भक्ष्य पदार्थों को काटते हैं, वे उप-शमन-शक्ति के भेद-मात्र हैं। इस शक्ति का सङ्गठन होता है— **'प्रजा-पति'** के तैजस् से। **'प्रजा-पति'** से यहाँ मन या सृष्टि-कारिणी शक्ति का तात्पर्य नहीं है। यहाँ इससे **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **'बुद्धि'** या **'उपादेय मन'** का तात्पर्य है और **'क्रिया-योग-क्रम'** में प्राणों का उप-शमन करनेवाली शक्ति का तात्पर्य है। हम बुद्धि से ही अवाञ्छनीय वृत्तियों का उप-शमन करते हैं। ये वृत्तियाँ ही हमारी (व्यष्टि-भाव में) प्रजाएँ हैं। सुवृत्तियाँ भी हमारी प्रजाएँ ही हैं, परन्तु इनका संवर्द्धन बुद्धि के द्वारा ही होता है। जिस प्रकार दाँत हमारे शरीर की पुष्टि के लिए भक्ष्य पदार्थों का उप-शमन कर पचने के लिए पेट के भीतर भेजते हैं, उसी प्रकार संवर्धित **'बुद्धि'** हमारी वृत्तियों को उप-शमित कर **उपादेय मन** के पास भोजनार्थ अर्थात् चिन्तनार्थ भेजती है।

'पावक' के तैजस् से **'नयन-त्रय'** बनते हैं। **'नयन'** से केवल दर्शनेन्द्रिय आँख का ही तात्पर्य नहीं है। **'नयन'** उसको कहते हैं, जो हमें अर्थात् नयनवालों को गन्तव्य या द्रष्टव्य वस्तु तक ले जाए— **'नीयते अनेन इति नयनम्।'** **'आँख'** हमको दृष्टि-लक्ष्य तक ले जाती है, इसलिए इसको **'नयन'** कहते हैं, परन्तु यथार्थतः **'नयन'** ज्ञान है, जिससे अपने लक्ष्य की धारणा होती है। **'पावक'** नाम अग्नि का है क्योंकि यह उस वस्तु को पवित्र कर देता है, जिसके सङ्ग इसका सम्पर्क होता है— **'पुनाति इति पावकः।'** **'अग्नि'** जल के कीटाणुओं को नष्ट कर पवित्र पीने योग्य करता है, धातु यथा सुवर्ण आदि के मलों को जला कर शुद्ध बनाता है। अतः **'अग्नि'** का नाम **'पावक'** पड़ा। इस प्रकार बोध होता है कि **पावक-सत्ता** के तैजस् से हमारे **नयन-त्रय** या **ज्ञान-त्रय** अर्थात् १ भौतिक, २ आधिदैविक और ३ आध्यात्मिक ज्ञान बनते हैं।

'सन्ध्या' के तैजस् से **'भ्रू-युगल'** बनते हैं। **सन्ध्या** के दो अर्थ हैं— एक सन्धि का समय और दूसरा वह समय, जिसमें सम्यक् प्रकार से ध्यान हो— **'सम्यग् ध्यायन्ति अस्यां इति सन्ध्या।'** किन्हीं दो वस्तुओं के योग को **'सन्ध्या'** कहते हैं। योग से यहाँ तात्पर्य है— मन और उसके लक्ष्य के योग का। योग होने पर ही उचित प्रकार का चिन्तन होता है। हमारे योग की मात्रा जितनी ही घनी होती है, उतनी ही अच्छी धारणा होती है। यही योग-सत्ता **'सन्ध्या'** है। **'क्रिया-योग-क्रम'** में इड़ा और पिङ्गला की सन्धि-अवस्था **'सुषुम्ना'** है। जब सुषुम्ना द्वारा श्वास-प्रश्वास की धारा बहती है, तभी पूजा, ध्यान, जप आदि साधन-प्रक्रियाएँ ठीक से काम करती हैं। इसी से तन्त्रों का निर्देश है कि न दिन में, न रात में साधन करना

चाहिए— **'न दिवा पूजयेद् देवीं, रात्रौ नैव च नैव च।'**

'देवी' है हमारी **'कुण्डली-शक्ति'।** इसकी **'पूजा'** या संवर्धन-क्रिया दिन में अर्थात् इड़ा में प्राण-वायु का प्रभाव जब रहे, तब भी नहीं और पिङ्गला या रात में होता रहे, तब भी नहीं। इस प्रकार **'सन्ध्या'** के तैजस् से **'सुषुम्ना'** के तैजस् का तात्पर्य है। अब, **भ्रू-युगल** से नयन के ऊर्ध्व-स्थित कुटिल रेखा-द्वय का तात्पर्य नहीं है, अन्तर्देशीय मण्डल का तात्पर्य है। इस मण्डल को **'मानस-मण्डल'** या **'मानस-चक्र'** कहते हैं।

'भ्रू'-पद भ्रम् धातु-उणादि से बनता है, जिसका अर्थ है चक्राकार चलनेवाला। यहाँ मन की चक्राकार गति होती है। यह मन का मध्यम स्थान है, जिसके तीन स्थान हैं। एक 'हृदय'-क्षेत्र, दूसरा यही और तीसरा 'सहस्रार' से ठीक नीचे, जो विमर्श-प्रदेश कहा जाता है, जिसकी तान्त्रिकी संज्ञा **'गुरु-पीठ'** है। यह जो मध्यम मन-प्रदेश है, उस पर हृदय से अधिक ज्योतिर्बिम्ब पड़ता है।

'अनिल' के तैजस् से **'कान या श्रवणेन्द्रिय'** बनते हैं। **'कान'** से दृश्यमान स्थूल श्रवणेन्द्रिय का ही तात्पर्य नहीं है, इससे **शब्द-तन्मात्रा** के ग्राहक सत्तावान् पदार्थ का बोध है। **शब्द-तन्मात्रा** की शक्ति अन्य तन्मात्राओं की शक्तियों की अपेक्षा हममें बहुत कम है। इसी से सभी प्रकार के शब्द अर्थात् दूर के और पास के भी अधिक मृदु नहीं सुन सकते हैं। यह तो हुई आहत शब्द की बात। अनाहत शब्द की बात तो दूर रही। हमारी श्रवण-अक्षमता का कारण है— **'प्राण'** की चञ्चलता। **'योग-प्रक्रिया'** के द्वारा **अनिल** या **'प्राण-वायु'** संवर्धित हो जाता है और इसकी शक्ति की सहायता से हम सभी प्रकार के शब्द सुन सकते हैं। यही आधुनिक **'टेलिपैथी'** विद्या है, जिसके सम्बन्ध में लोग अनुसन्धान कर रहे हैं और जिसके बारे में **'योग-शास्त्र'** में विधियाँ निर्दिष्ट हैं।

ऊपर मुख्य-मुख्य **तैजस् सङ्गठनों** का उल्लेख हुआ है। अमुख्यों के सम्बन्ध में एक ही जगह सामान्य उल्लेख है कि और-और चेतनाओं के संवर्धन के द्वारा तैजस् मूर्ति के अमुख्य अवयवों का सङ्गठन हुआ या होता है। तैजस् मूर्ति का नाम है— **'शिवा'** अर्थात् **कल्याणकारी आद्या या मूला शक्ति।** यही इस चरित की नायिका है, जो **'भद्र-काली'** की संज्ञा से अभिहित की गई है।

जीवात्मा का किस प्रकार या किस रीति से सङ्गठन होता है कि वह **'तैजसात्मा'** या **'शिव'** में परिवर्तित होता है, यह यहाँ उल्लिखित नहीं है। इसका कारण यह है कि यह क्रिया-योगात्मक व्यावहारिक विषय है, जिसकी शिक्षा या साधन-प्रणाली पूरी तरह लिखी नहीं जा सकती। पदार्थ-विज्ञान, रसायन-विज्ञान के समान इसकी शिक्षा भी प्रदर्शनीय है। इस हेतु हमको समझना चाहिए कि **गुरु मेधस्** ने अधिकारी **शिष्य सुरथ** को उक्त सिद्धान्त के अनुसार व्यावहारिक शिक्षा भी दी, जिसके अनुसार सुरथ ने साधन कर कल्पोक्त फल पाया।

★ ★ ★

कल्याण-कारिणी 'तैजस मूर्त्ति'

'सप्तशती' के **'मध्यम चरित'** के अनुसार **देवताओं ने नारी-रूपा 'तैजस मूर्त्ति' को अस्त्र-शस्त्र आदि से सज्जित किया** था। इससे यह बोध होता है कि कल्याण-कारिणी **'तैजस मूर्ति'** के सङ्गठित होने से चेतनात्मक शक्तियाँ स्वतः आ जाती हैं। इन्हीं चेतनात्मक शक्तियों की रूपकच्छलात्मक संज्ञाएँ हैं— **आयुध, आभूषण** आदि। अब इनके रहस्यार्थ क्या हैं? यह देखना है—

(१) पिनाकी (शिव) ने **'त्रिशूल'** दिया, (२) कृष्ण ने **'चक्र'**, (३) वरुण ने **'शङ्ख'**, (४) हुताशन ने **'शक्ति'**, (५) मारुत ने **'धनुष'** एवं **'वाण-पूर्ण तरकस'**, (६) इन्द्र ने **'वज्र'**, (७) सहस्राक्ष ने **'ऐरावती घण्टा'**, (८) यम ने **'काल-दण्ड'**, (९) अम्बु-पति ने **'पाश'**, (१०)प्रजा-पति ने **'अक्ष-माला'**, (११) ब्रह्मा ने **'कमण्डलु'**, (१२) दिवाकर ने **'समस्त रोम-कूपों में रश्मियाँ'**, (१३) काल ने **'खड्ग व चर्म या ढाल'**, (१४) क्षीर-समुद्र ने '**हार, वस्त्र-द्वय, चूड़ामणि, दिव्य कुण्डल, वलय, केयूर, अर्द्ध-चन्द्र, नूपुर, ग्रैवेयक** (कण्ठा) **एवं अँगूठियाँ,** (१५) विश्वकर्मा ने **'परशु', अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र एवं अभेद्य कवच,** (१६) समुद्र (क्षीर-समुद्र) ने **'सदा सर्वदा ताजे' रहनेवाले कमलों की दो मालाएँ—** मस्तक और छाती पर की तथा **एक कमल पुष्प,** (१७) हिमालय ने **'सवारी के लिए सिंह और अनेक रत्न',** (१८)धनाधिप अर्थात् कुबेर ने **'खाली न होनेवाला पान-पात्र',** (१९) नागों के राजा शेष ने **'महा-मणि-विभूषित नाग-हार'** और अन्य देव-गण ने भी **भूषणों** और **आयुधों** से उन्हें विभूषित किया। ये सभी **योग की विभूतियों** के द्योतक हैं, जो इस प्रकार सिद्ध हैं —

(१) **'पिनाकी'** - पद का अर्थ है **'रक्षक'— 'पाति इति पिनाकः, यस्यास्ति पिनाकः सः पिनाकी।'** इस प्रकार **'पिनाकी'** अर्थात् **जगद्-गुरु शिव** हमारे **'रक्षक'** हैं, क्योंकि ये **'ज्ञान'** से हमारी **'रक्षा'** करते हैं। इन्होंने **'त्रिशूल'** दिया। **'त्रिशूल'** से लौह-दण्ड-विशेष का तात्पर्य नहीं है। यहाँ **'त्रिशूल'** से **'त्रि-शूल'** या **'त्रि-ताप'** का निवारण करनेवाले साधन या शक्ति-विशेष का तात्पर्य है।

(२) **'कृष्ण'** से निर्मल आकाश-रूपात्मा का वोध है, जैसा **'योग-वासिष्ठ'** भी कहता है। यह एक-भागात्मक लक्षणाधार संज्ञा है। इसके द्वारा **'सुदर्शन-चक्र'** दिया जाता है। **'सुदर्शन'** नाम है— सुन्दर ज्ञान का, जिससे अविद्या-जनित विक्षेप का खण्डन होता है।

(३) **'वरुण'** ने **'शङ्ख'** दिया। इस उक्ति से यह आशय है कि इस तैजस मूर्ति या तैजसात्मा में भूमा-रस की **'नाद-शक्ति'** आती है। **'वारुणी शक्ति या विद्या'** एक मत के अनुसार **'गायत्री महा-विद्या'** है और दूसरे मत से यह **'भार्गवी विद्या'** है। **'वरुण'** को जल-देवता कहा जाता है। यहाँ जल से सामान्य जल का अर्थ नहीं है। यह है— **'आपो**

ज्योति रसोऽमृतम्।' यह सब में है— **'गायत्री वा इदं सर्वम्।'** यही **'भूमा-रस'** या **'आनन्द-रस'** है, जिससे जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय है। इसकी प्रधान शक्ति है— **'नाद'**, जिसका प्रतीक है **'शङ्ख'**। **'गायत्री'-साधन** भी **'नाद-साधन'** है। तात्पर्य कि बिना **'नाद-साधन'** के **'गायत्री'-साधन** असम्भव है। **'गायत्री'** से यहाँ **'अव्यक्ता गायत्री'** का बोध है, न कि प्रचलित **'गायत्री-मन्त्र'** का। विशद ज्ञान के लिए **'श्रीगायत्री-कल्पतरु'** पुस्तक देखिए।

(४) **'हुताशन'** ने **'शक्ति'** दी। **'हुताशन'** अग्नि की संज्ञा है, पर अर्थ में अन्तर है। **'अग्नि'**-नाम **'प्राण'** का भी है और **'ज्ञान'** का भी, पर **'हुताशन'** का अर्थ है— **'परिपक्व प्राण'** या **'परिपक्व ज्ञान'**। **'पर-प्राण'** में **'अपर-प्राण'** की आहुति देने से **'हुताशन'** कहलाता है, अन्यथा **'अग्नि'** कहलाता है। ऐसे ही **'परिपाचित ज्ञान'** को, जो विशेष ज्ञान में अविशेष अयथार्थ ज्ञान-राशि के दहन होने से होता है, **'हुताशन'** कहते हैं। इस **'हुताशन'** द्वारा दी गई **'शक्ति'** से भौतिक अस्त्र या शस्त्र का तात्पर्य नहीं है। इससे **'प्राण-शक्ति'** या **'ज्ञान-शक्ति'** का बोध है।

(५) **'मारुत'** ने **'धनुष'** और **'अक्षय तरकस'** दिया। **'मारुत'**-नाम मुख्य प्राण का है क्योंकि प्राण-वायु के बिना कोई जीवित नहीं रह सकता— **'म्रियन्ते अनेन इति मारुतः।'** **'मारुत'** का दूसरा अर्थ भी है क़ि जो रोने से रोके— **'मा रोदीः इति मारुतः।'** इस अर्थ में भी **'मारुत'**-पद से **'सम्वर्धित मुख्य प्राण'** का बोध है, जो जीवों को रोने नहीं देता क्योंकि इस **'मुख्य प्राण'** की संवर्धना से किसी प्रकार की आधि या व्याधि जीव को रुला नहीं सकती। यही हम जीवों को शरीर रखने और इसका उपभोग करने की शक्ति देता है।

'श्रुति' ने मानव-शरीर को **'क्रिया-योग-क्रम'** में **'धनुष'**-रूप माना है। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **'धनुष'** का अर्थ **'बुद्धि'** और **'शर'** या **'वाण'** का अर्थ **'ज्ञान'** है, जिससे ब्रह्म-रूपी लक्ष्य का वेध होता है— **'धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं हि उपासा निशितं सन्धयीत। आयम्य तद्भाव-गतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य! विद्धि।।** (मुण्डक २।२।३)।' **'क्रिया-योग-क्रम'** में **'वाण'** से, जो **'वण-शब्दे'** धातु से बनता है, कम्पन-क्रिया का बोध है। यह बाण या कम्पन **'प्राणायाम'-प्रक्रिया** की दूसरी अवस्था है। इसी के अभ्यास से तात्पर्य है। **'वाण'** को सान देकर **'समाधि'** की उपलब्धि होती है, जो अक्षर-ब्रह्म का भेदन या बेधन है। फिर **'भक्ति-योग-क्रम'** में भी यही कम्पन भावावेश आने से होता है, जो **'भक्ति-योग-क्रम'** की **'समाधि'** की पूर्वावस्था है।

(६) **'इन्द्र'** ने **'वज्र'** दिया। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **'इन्द्र'— मुख्य मन** है और **'क्रिया-योग-क्रम'** में **मुख्य प्राण** है। **'मन'** और **'प्राण'** दोनों की संवर्धना से दोनों में वज्रत्व अर्थात् अटल सुदृढ़त्व आता है। तभी **'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः'**— यह गीतोक्ति चरितार्थ होती है।

(७) **'सहस्राक्ष'** ने अपनी सवारी के हाथी **ऐरावत का घण्टा** दिया। **'सहस्राक्ष'** है तो

'देव-राज-इन्द्र' ही, पर भिन्न-गुणी है। **'इन्द्र'** की परिभाषा पूर्व कही जा चुकी है। **'सहस्राक्ष'** की परिभाषा से, जो यहाँ दी जा रही है, तुलना करने पर यह भिन्नता स्वतः सिद्ध हो जाती है। **'सहस्राक्ष'** का अर्थ है— हजार आँख अर्थात् ज्ञानवाला। **इन्द्र ने अहल्या- 'न हल्या हलने अशक्या'** अर्थात् जो क्षेत्र जोतने (हल से) योग्य नहीं है अर्थात् ब्रह्म-क्षेत्र से तादात्म्य कर उसे जोत लिया। तभी वह **'सहस्राक्ष'** पद-वाच्य हो सके। अतः **'सहस्राक्षत्व'** पद से **'सर्वज्ञत्व'** एवं **'सर्वगत्व'** का बोध है।

उक्त **'सर्वज्ञ'** और **'सर्वग'** का ही वाहन **'ऐरावत'** है। यह **'ऐरावत'** चार दाँतवाला उज्वल वर्णवाला विशाल हाथी नहीं है। **'ऐरावत'**-पद **'इर-गमने'** धातु से बनता है। **'इरा'**-शक्ति अर्थात् **'क्रिया-शक्ति-सम्पन्न'** पदार्थ है। इसका अपत्य वा तत्सम्बन्धी है— **'ऐरावत'**। पौराणिक कथा है कि इसकी उत्पत्ति समुद्र से है। ठीक, **'समुद्र'** है- **'इरावान्'**। **'इरा'** नाम जल का भी है, परन्तु प्रकरणानुसार यहाँ **'समुद्र'** से **'आकाश-समुद्र'** का तात्पर्य है। यह **'आकाश-समुद्र'** एक प्रकार का महान् असीम शून्य है, जिसमें सभी प्रकार की शक्तियाँ एवं स्वतः सभी प्रकार के जीव-कीटाणु-समूह हैं और जिसमें चित्र-विचित्र शक्तियाँ काम करती रहती हैं, जिनके द्वारा रासायनिक संयोग एवं संयोग-सम्बन्ध आदि द्वारा विश्व के सभी काम होते रहते हैं। अस्तु, **'ऐरावती घण्टे'** से **'क्रियात्मक शक्ति के कम्पन-नाद'** का बोध होता है। इससे ऐसा बोध भी होता है कि **संवर्धित तैजस् आत्मा में क्रियात्मक शक्ति का सतत कम्पन-नाद** होता रहता है।

(८) **'यम'** से **'दण्ड-शक्ति'**। **'यम'** किसे कहते हैं, यह पहले कहा जा चुका है। यहाँ प्रकारान्तर में कहा जाता है कि **'यम'** नाम का कोई हमसे भिन्न जीव नहीं है। यह हममें ही रहनेवाली **'चेतना-शक्ति'** है, जो जीव की मृत्यु के पश्चात् (कभी-कभी जीवितावस्था-विशेष में भी) किञ्चित् काल-पर्यन्त इन्द्रियों के संयत होने पर और रहने पर्यन्त अपने सुकर्म और दुष्कर्म का उचित विचार या परिगणन करती है। यह चेतना या देवता हमारे जीवन-काल में निरपेक्ष भाव से विचार नहीं कर सकती है क्योंकि जीवन-धारा के स्रोत में हमारे इन्द्रिय-गण संयत नहीं रहते और वाहरी प्रभावों से भी चञ्चलता रहती है। अलम्वहुना, दो शब्दों में कहते हैं कि **'संयतावस्था'** ही **'यम'** है।

इसके विपरीत **'असंयतावस्था'** ही है— **'चित्रगुप्त'** या चित्र-विचित्र गुप्त भावों से भरा हृत्-पट। रूपकोक्ति है कि **चित्रगुप्त महाराज** एक पोथी में सभी जीवों के सुकर्म और दुष्कर्मों की सूची लिखते रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे सुकर्म और दुष्कर्म सभी इसी अन्तर-स्तम हृत्-पट पर चित्र-वत् अङ्कित होते रहते हैं। अतः **'यम-दण्ड'** वह माप-दण्ड है, जिसे **'विवेक'** कहते हैं तथा जो भले और वुरे की विवेचना करता है। यह तो हुई **'ज्ञान-योग-क्रम'** की बात। **'क्रिया-योग-क्रम'** में **'यम-दण्ड'** है— **'मेरु-दण्ड'**, जिससे **'कुण्डली'** का उत्थान मापा जाता है। इसी से **'काल-पुरुष'** का ज्ञान भी होता है।

(९) **'अम्बु-पति'** से **'पाश'** मिला। यहाँ **'अम्बु'** का अर्थ जल नहीं है। **'अम्बु'**-पद— **'अवि शब्दे'** धातु से वनता है। इसका अर्थ है **'शब्द'** करनेवाला। शब्द करनेवाले हैं **'मुख्य और अमुख्य प्राण-समूह।'** इस प्रकार, **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **'अम्बु-पति'** से **'मन'** का आशय है क्योंकि यह इन्द्रियों

का स्वामी है और इसके ही अधीन इन्द्रिय या प्राण-गण रहते हैं। इस प्रकार **अम्बु-पति** के इस अर्थ से ऐसा बोध होता है कि **तैजस् आत्मा में मन को बाँधने की शक्ति** आ जाती है। **'क्रिया-योग-क्रम'** में भी मुख्य प्राण को, जो प्राणों का स्वामी है, बाँधने की शक्ति आ जाती है। तात्पर्य है कि **'कुम्भक प्राणायाम'** की शक्ति पर्याप्त बढ़ जाती है। फिर **'भक्ति-योग-क्रम'** में राग-स्वरूप पाश के संवर्धन होने से भक्ति की दृढ़ भूमिका बनती है। बनानेवाले हैं, **संवर्धित मन और प्राण।**

(१०) **'प्रजा-पति'** से **'अक्ष-माला'**। **'प्रजा-पति'** से आदि प्रजा-पति अर्थात् सृष्टि के आदि कारण का बोध है। इसकी पर्याय-वाचक संज्ञा है— **'महा-चिति।'** **'अक्ष'**-नाम आँख अर्थात् **'ज्ञान'** का है। अतः ऐसा बोध है कि तैजस् आत्मा में **'ज्ञान-माला'** अर्थात् सभी प्रकार के ज्ञान का उदय होता है।

(११) **'ब्रह्मा'** से **'कमण्डलु'**। 'क+मण्ड+ल+उ=**'कमण्डलु'**-पद अनेकार्थ-वाचक है। इसका एक अर्थ है, जो यहाँ प्रकरणानुसार ग्राह्य है कि **'ज्ञान-रूपी जल या रस जिसमें रहे।'** इससे **'अक्ष-माला'** या **'ज्ञान-माला'** रखने की पात्रता होती है और यह होती है— **'ब्रह्मा'** या **'उपादेय मन'** के द्वारा।

(१२) **'दिवाकर'** की ज्योति से समस्त रोम-कूप प्रकाशित हुए। **'दिवाकर'** से दृश्यमान सूर्य का तात्पर्य नहीं है। **'दिवाकर'** या **'चित्-सूर्य'** से हमारा अन्तश्चक्षु प्रकाशित होता है। इसीलिए यहाँ आँख का उल्लेख न कर **'समस्त रोम-कूपावलि'** का उल्लेख है।

(१३) **'काल'** से **'खड्ग'** और **'निर्मल चर्म'** (ढाल) मिला। **'काल'**-पद—**'कल्'**-धातु से बना है। यह भी अनेकार्थ-वाचक पद है। **'काल'** है— कलन-कर्ता। **'कलन'** का जहाँ अर्थ है **'संहरण'**, वहीं **'सृजन'** भी है। फिर **'कलन'** नाम **'प्रेरणा'** का भी है। अतएव काल से **'कलात्मक सत्ता'** अर्थात् **'चिति-सत्ता'** का बोध है, जिससे विश्व के सभी प्रकार के विरोधात्मक एवं अविरोधात्मक कर्मों का सम्पादन होता है। मूला आद्या धर्म-शक्ति— महा-चिति की धर्म-शक्ति है, यह **'शाक्त-सिद्धान्त'** है। वेदोक्त काल-वादी **'काल'** ही को **'धर्म-शक्ति'** या **'परमा सत्ता'** मानते हैं। **'काल'** अखण्ड एवं असीम है, परन्तु इसका प्रधान आयुध (शक्ति) या गुण-खण्ड कर ससीम करनेवाला **'खड्ग'** है।

'काल' अपने आयुध **'खड्ग'** से अपने को भी खण्डित करता है और **'प्रकृति'** के सभी पदार्थों को भी, जिससे इसकी अपनी और **'प्रकृति'** की व्यक्ति हो। अन्यथा न **'काल'** का ज्ञान होता और न **'प्रकृति'** की किसी वस्तु का क्योंकि जिस प्रकार **'काल-गति'** का पता लगाना असम्भव है, उसी प्रकार **'प्रकृति'** की किसी वस्तु के मूल-स्वरूप का पता लगाना असम्भव है। अतएव **खड्ग-रूपी ज्ञान**-द्वारा परिच्छिन्न कर पता लगता है। प्रकारान्तर में ऐसा भी समझ सकते हैं कि **'खड्ग-रूपी ज्ञान'** से ही तैजसात्मा **'काल'** की असीमता और अपरिच्छिन्नता का ज्ञाता होता है। इसी कारण वह राग-द्वेष से परे हो पूर्ण सात्त्विक भाव में आ जाता है। (यही तो **'महिषासुर'** को जीतना है।)

(१४) **'क्षीर-समुद्र'** से **'वस्त्र और आभूषण'**। **'क्षीर-समुद्र'** से पुराणों की रूपकोक्ति दूध के समुद्र का तात्पर्य नहीं है। **'क्षीरोद'**- पद का प्रयोग रहस्य-गर्भाश्रित है। यह पेय पदार्थ नहीं है, जैसा इसका साधारण अर्थ मानते हैं। यह **'घस् भक्षणे'** धातु से बना **(ईरन् उणादि)** है, जिसका अर्थ खाद्य है। अस्तु, **'क्षीरोद'— नीर-क्षीर-सम्बन्ध** का द्योतक है। यह सम्बन्ध नित्य है। यह जैसे पानी और दूध में है, वैसे ही सत् और असत् में तथा चित् और अचित् में। जिस प्रकार दूध पानी से पृथक् नहीं

रह सकता, उसी प्रकार सत् असत् से और चित् अचित् से पृथक् नहीं हो सकते। (जब होता है तो अनाख्य अर्थात् अचिन्त्य होने से अवर्णनीय है।) इस सम्बन्ध का ज्ञान अर्थात् चित् और अचित् के नित्य सम्बन्ध का ज्ञान तैजस् आत्मा को हो जाता है। इससे उसको **'सदा-सर्वदा नए रहनेवाले वस्त्र-द्वय'** मिलते हैं। **'वस्त्र-द्वय'** से सर्वाङ्ग के आवरण का तात्पर्य है। यह **'वस्त्र-द्वय'** भौतिक नहीं, आध्यात्मिक वस्तु है। अतएव **'वस्त्र-द्वय'** से **सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के ज्ञान** की अजर या अम्लान दृढ़ता का बोध होता है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि तैजस् आत्मा में दोनों ज्ञान रहते हैं, पर जव यही तैजस् आत्मा प्राज्ञ आत्मा में परिणत होती है, तो सामान्य ज्ञान का लोप हो जाता है। अर्थात् प्राज्ञ आत्मा-जीव सामान्य ज्ञान से काम नहीं लेता है। यथा— कान रहते भी शव्द नहीं सुनता, जिह्वा रहते वोलता नहीं है, इत्यादि। ये **'प्रशान्तावस्था'** के लक्षण हैं। ऐसा **'श्रुति'** भी कहती है कि रूपों का ज्ञान अन्धा वनकर लो, वहरे जैसा सुनो। तात्पर्य कि देह को काष्ठ-वत् मानो। यहीं प्रशान्त के लक्षण हैं— **अन्ध-वत् पश्य रूपाणि, शब्दं बधिर-वत् शृणु। काष्ठ-वत् पश्य वैदेहं, प्रशान्तस्येति लक्षणम्।।** (अमृत-नादोपनिषद्)। यह हुई **'वस्त्र-द्वय'** की बात। अब **'आभूषणों'** को लें। यहाँ **'आभूषणों'** से शरीर के शोभा-कारक द्रव्यों का बोध नहीं है। यहाँ ये **आत्मा के दीप्ति-कारक गुण या शक्तियाँ हैं।** ये अनेक हैं, जिनमें सबकी पृथक्-पृथक् विवेचना स्थानाभाव-वश असम्भव है, फिर भी यहाँ एक या दो की विवेचना करते हैं—

(क) अमल-हार— **'हार'** वस्तु है मनोहार (मनोहर) अर्थात् मन को हरनेवाला। मन का हरण सुवर्ण या रत्नादिक के बने हार या माला नहीं कर सकते हैं। वास्तविक हार है— **'अनुराग'** या **'प्रेम'**, जो हमारे मन को अन्य वस्तुओं से हटाकर एक इष्ट-मात्र में व्यवस्थित करता है। **'भक्ति-योग-क्रम'** में **'हार'** है— **'भक्ति'**। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **'हार'** है— **'वैराग्य'** और **'क्रिया-योग-क्रम'** में **'हार'** है — **'ध्यान'**।

(ख) चूड़ामणि— यहाँ **'चूड़ामणि'** से वह अर्थ नहीं है, जो कुछ दिन पूर्व प्रचलित था और जिसको स्त्रियाँ, विशेषतः मारवाड़ एवं मेवाड़ की स्त्रियाँ, पहिना करती थीं। **'चूड़ा'** का अर्थ है— सर्वोत्कृष्ट। चूँकि सिर पर बँधा चूड़ा या खोंपा सबसे ऊँचे स्थान पर अवस्थित है, यह 'चूड़ा' कहलाता है और **'मणि'** नाम है— प्रकाश-कारक पदार्थ का। इस प्रकार **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **'चूड़ा-मणि'** से उस **'सर्वोत्कृष्ट ज्ञान'** का बोध है, जो धारक (पहिननेवाले) को तो दीप्त करता ही है, अपि च देखनेवालों को भी दीप्त करता है। **'क्रिया-योग-क्रम'** में **'मणि'** से **'नाद'-कारक पदार्थ** का बोध है क्योंकि **'मणि'** का शब्दार्थ है— **'मण् शब्दे।'** और **'चूड़ा'** है— **'ब्रह्म-रन्ध्र'**, जो मस्तक के सर्वोच्च स्थान पर है। इस प्रकार **'ब्रह्म-रन्ध्र' में जो 'नाद' करे, वही 'चूड़ामणि'** है। यह **'चूड़ामणि-शक्ति'** उच्च कक्षा के योगियों में रहती है। तात्पर्य कि जिन योगियों को **'समाधि'** लगती है, उनमें उस समय या **'समाधि'** के समय **'हृदय'** में प्राण का स्पन्दन-जनित **'नाद'** न होकर **'ब्रह्म-रन्ध्र'** में ही होता है। यह गुण-रूपी आभूषण तैजस् आत्मा का ही है, ऐसा बोध होता है।

इस प्रकार, **'तैजस् आत्मा'** नाना विभूषणों अर्थात् गुणों से विभूषित होती है। यह **'तैजस्'** आत्मा की आदि वा प्रारम्भिक अवस्था है, जिसमें **'नाद'** मुहुर्मुहु और घोर-रूप का

होता है। धीरे-धीरे **'नाद'** से नभ अर्थात् **'हृदयाकाश'** या **'दहराकाश'** पूरित हो जाता है। तब यही **'नाद'** महिष के नष्ट होने पर अति मृदु, अति मधुर एवं अति सूक्ष्म हो जाता है। अन्त में अर्थात् साधन के पूर्ण हो जाने पर जब **'समाधि'** लगती है, तो यह निरुद्ध-प्राय हो जाता है।

उक्त **अनवरत** 'नाद' का कारण है— **'कम्पन'**। इस **'कम्पन'** हेतु उक्ति है— **'चुक्षुभुः सकला लोकाः, समुद्राश्च चकम्पिरे'** अर्थात् सकल आलोक-स्थान, या सभी ज्ञान-केन्द्र एवं सातों समुद्र अर्थात् सप्त-धातु क्रमशः **'क्षोभित'** हुए और काँपने लगे। यहाँ **'क्षोभित'** से **'कलुषित'** होने का तात्पर्य नहीं है वरन् स्थगित (स्तब्ध) का बोध है। **'ज्ञान-केन्द्र'** से इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है अर्थात् बाह्य ज्ञान का ही तात्पर्य है। **'अन्तर्ज्ञान'** तो अभी रहता ही है। यह नष्ट होता है तब, जब **'शम्भु-निशुम्भ का वध'** होता है, अर्थात् जब **'निर्विकल्प समाधि'** लगती है। यह तो **'मध्यमावस्था'**-मात्र है, जिसमें **'समाधि-पञ्चिका'** की **'दूसरी समाधि'** लगती है, जिसकी संज्ञा है— **'बाह्य-शब्दानुविद्ध।'** इसके पश्चात् अर्थात् **'तृतीय साधन'** (**'सप्तशती' के तृतीय चरित**) में और अग्रसर होने पर तीसरी **'अन्तर्दृश्यानुविद्ध'**, चौथी **'अन्तः-शब्दानुविद्ध'** और अन्त में **'निर्विकल्प समाधि'** लगती है।

फिर यह भी कहा गया है कि उक्त **'नाद'** से **'महीधर'**-सहित वसुधा चञ्चल हो गई या काँपने लगी। **'क्रिया-योग-क्रम'** में **'पृथ्वी'** से **'मूलाधार-चक्र'** का तात्पर्य है। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **'पृथ्वी'** अर्थात् **'मूलाधार'** ज्ञान की सप्त-भूमिकाओं में की प्रथम भूमिका है। जिस प्रकार स्थूल नीलाचल, मन्दर, चन्द्र-शेखर, हिमालय, सुवेल, मलयाचल और सुपर्वत **'स्थूल पृथ्वी'** का भार ठीक रखे हैं, उसी प्रकार **'व्यष्टि-स्थित पृथ्वी'** का भार सात **महीधर** रखे हैं। यह मत **'निर्वाण तन्त्र'** का है। **'विश्वसार तन्त्र'** के अनुसार इनकी संख्या आठ है। **'षट्-चक्र-निरूपण'** का भी यही कहना है, परन्तु इनको **'शूलाष्टक'** कहता है।

तात्पर्य यह है कि **'पृथ्वी'** या **'मूलाधार-चक्र'** पर से **कुण्डली** जब ऊपर की ओर उठती है, तो गति का एक दबाव होता है, जो आधार पर पड़कर उसको कँपाता है। इसी भाव की द्योतक है— **'हनुमान के लङ्का तक उड़ने की कथा'**, जिस समय पहाड़-सहित **'पृथ्वी'** काँप गई। इसका रहस्यार्थ यह है— **'हनुमान'** हैं वायु-पुत्र— अर्थात् पर-प्राण के अपत्य अपर-प्राण। **'लङ्का'** है— 'हृदय', जहाँ माध्यम ज्ञान होता है। **'लङ्का'** **'लक् दर्शने'** धातु से बना है, जिसका अर्थ है देखने का स्थान।

अस्तु, साधक के यहाँ तक साधन करने पर एतादृशी लक्षणाएँ होती हैं। तात्पर्य कि **'कुण्डली'** अर्थात् **'कुण्डलाकार लिपटी प्राण-शक्ति'** जब ऊपर उठती है, उस समय बहुत जोरों का **'कम्पन'** होता है और तज्जन्य **'नाद'** भी होता है। इससे आनन्द की एक लहरी बहने लगती है, जिसकी द्योतक यह उक्ति है कि **देव-गण जय-जयकार करने लगे** अर्थात् समस्त चेतना-राशि पुलकित हो उठी।

सिंह-वाहिनी चण्डी

'प्राण-शक्ति' को **'सिंह-वाहिनी चण्डी'** कहते हैं। यह **'महिष'** को मारती है अथवा यों कहें कि यह **'महिष'** को पाँव तले दबा रखती है। इस हेतु इसे **महिष-मर्दिनी** भी कहते हैं। इनको **'सिंह'** पर बिठाने का रहस्य क्या है? यह हमें जानना चाहिए। **'सिंह'** कोई जन्तु नहीं है। यह है **'समग्र धर्म'** का प्रतीक। **'वैकृतिक रहस्य'** कहता है— **'सिंहं समग्रं धर्ममीश्वरम्।'**

युक्ति से सिद्ध है कि जो **'हिंस'** करे, वही **'सिंह'** है। दूसरे शब्दों में यह शब्द विकल्प-रूप है, यथा **'पश्यक'** का **'कश्यप'**, **'वलग'** का **'बगला'** इत्यादि। हिन्दी में भी मतलब का मतलब रूप का प्रयोग होता है। **'हिंसा'** कर्म एवं **'हरण'** कर्म प्रायः पर्याय-वाचक संज्ञाएँ हैं। जिस प्रकार **'हरि'** एवं **'हर'** त्रिताप के हरनेवाला या दूर करनेवाले हैं। उसी प्रकार **'सिंह'** सभी प्रकार के दुःखों को मारनेवाला या दूर करनेवाला है। दूसरे **सिंह**-रूपी **'धर्म'** पर जो चढ़ जाता है अर्थात् व्यवस्थित हो जाता है, वह ऐश्वर्य या प्रतिभा-सम्पन्न हो अपने षड्-रिपुओं को मार अपने पशु-पाशाष्टक को काट कर **'जीव से शिव'** हो जाता है। यहाँ यह उल्लेख अप्रासङ्गिक नहीं है कि **भगवान् शिव** का वाहन **'वृष'** भी **'समग्र धर्म'** का द्योतक है।

अंस्तु, ज़ब साधक इतना अग्रसर होता है, तब तीनों लोक अर्थात् (१) **भू-लोक या मूलाधार-चक्र**, (२) **भुवर्लोक या स्वाधिष्ठान-चक्र** और (३) **स्वर्लोक या मणिपुर चक्र** संक्षुब्ध अर्थात् निष्क्रिय हो जाते हैं। ठीक ही है क्योंकि **'प्राण-शक्ति'** अब चतुर्थ लोक अर्थात **'महर्लोक'** अथवा **'हृदय'** (**लङ्का**) में आकर **हृदय** (**लङ्का**) के सिंह-द्वार को तोड़ना चाहती है अर्थात् **'विष्णु-ग्रन्थि'** का भेदन करना चाहती है। पर **'हृदय-द्वार'** तोड़ना कुछ सरल नहीं है। यहाँ बाहरी शत्रुओं का उतना भय नहीं, जितना अन्तः-शत्रुओं का है। ये शत्रु हमारे जन्म-जन्मान्तरों के कृत कर्मों के जनित वर्तमान कु-संस्कार-गण हैं। इन कु-संस्कारों का राजा **'राग-द्वेष'** है। यही **'महिषासुर'** है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि **'महिष'** को पहले **'राग'**-स्वरूप कहा है। फिर यहाँ उसी को **'राग-द्वेष'**-रूप कहते हैं! दूसरे **'राग'** और **'द्वेष'** परस्पर-विरोधी गुण हैं। उनका एक या एकत्रित रूप कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि **'राग'** या **'वासना'** दो प्रकार की है—. एक **उत्कृष्ट** या **वाञ्छनीय**। इसमें **द्वेष** नहीं है। यह **सिद्ध साधक** की चरमावस्था है। इस अवस्था में **सिद्ध साधक** विश्व को अपना समझ किसी से भी द्वेष नहीं करता। यही **'बाह्यावस्था'** है। दूसरा है— **निकृष्ट या अवाञ्छनीय**। यह सबमें रहता है। सबको

किसी व्यक्ति या भाव से **'राग'** है, तो किसी व्यक्ति या भाव से **'द्वेष'** है। इस प्रकार **'राग'** और **'द्वेष'**-रूपी द्वन्द्व का संसार है। इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरी अवस्था भी है, जिसमें न **'राग'** है और न **'द्वेष'**। यथार्थतः यह **'निर्विकल्पावस्था'** है, जिसको **'अनाख्या'** भी कह सकते हैं। यह **'शुम्भ-निशुम्भ'** अर्थात् **अहङ्कार** और (स्वतः) **ममता** के नष्ट होने पर आती है। यह **'गुणातीतावस्था'** है।

अस्तु, कहा गया है कि **'नाद'** सुनकर **'महिष'** स-सैन्य लड़ने को दौड़ा। इसका यह तात्पर्य है कि साधक के पूर्व-जन्मार्जित कु-संस्कार सब **साधना** में बाधा डालने लगे।

आगे कथानक है कि सर्व-प्रथम **'चिक्षुर'** और **'चामर'** स-सैन्य लड़ने आए। फिर इनके नष्ट होने पर क्रमशः १ **'उदग्र'**, २ **'महा-हनु'**, ३ **'असिलोमा'**, ४ **'वाष्कल'** और ५ **'विड़ाल'**— ये पाँचो आए। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि ये **सातों** कौन हैं? क्या ये बड़े-बड़े दाँतवाले, बड़े-बड़े सींगवाले, पिशाच-वदन राक्षस हैं— जैसा कथा-वाचक लोग कहा करते हैं? नहीं, ये सब कल्पित **'घृण्य'**-रूप हैं। दूसरे शब्दों में ये सब हमारी **'अवाञ्छनीय चित्त-वृत्तियों'** के द्योतक हैं।

संक्षेप में सातों का परिचय इस प्रकार है— **(१-२) चिक्षुर और चामर— 'चि+ क्षुर'** का अर्थ है, जो अव्यक्त भाव से अर्थात् चोरी से काटे। एक प्रकार से यह **'पाकेट-मार'** है, पर किसी स्थूल वस्तु याने रुपये-पैसे इत्यादि का नहीं। यह वह **'आसुरी'**-सर्ग है, जो साधक के अभ्यन्तर अलक्षित भाव से विषय-वासनाओं को बढ़ा कर **अखण्डाकर आत्म-वृत्तियों** को काट गिराता है। **'चामर'** इसका सहकारी सर्ग है— **'चम्यते, चमति वा चामरः'**— खानेवाला है। **'चमु—भक्षणे'**— इसका तात्पर्य यह है कि **'चिक्षुर'** से कटे भावों को **'चामर'** खा लेता है अर्थात् नष्ट कर देता है।

(३-४) उदग्र और महा-हनु— 'उदग्र' वह आसुरी सर्ग है, जो तीव्र-गति से स्वभाव को उद्धत या नीच बनाता है। **'उद्धत'** — विचार-हीन या विवेक-हीन होता है। विवेक-हीन **'धर्म'-हीन** हो जाता है। **'धर्म'-हीन** होकर ही जीव अधोगति हो जाता है। विवेक-हीन करने-वाले **'उदग्र'** का सहकारी है **'महा-मनु'**, जिसका अर्थ बड़ी ठुड्ढीवाला नहीं है। इसका अर्थ नाश करनेवाला है — **'हन्ति इति हनुः'**। इसी अर्थ में पवन-सुत **'महा-वीर'** को **'हनुमान'** कहा जाता है क्योंकि उन्होंने असंख्य राक्षसों का अर्थात् आसुरी सर्गों का संहार किया था या यों कहना युक्त है कि करते हैं। इस प्रकार **'उदग्र'** जीवों को बुद्धि-हीन बनानेवाला है और इन बुद्धि-हीनों का नाश करनेवाला है **'महा-हनु'**। **'गीता'** भी कहती है— **'बुद्धि-नाशात् प्रणश्यति।'** इस प्रकार बोध है कि **'उदग्र'** हम जीवों को विवेक-हीन बनाकर **'महा-हनु'** से नष्ट कराता है।

(५-६) असिलोमा और वाष्कल— 'असिलोमा' का यह अर्थ ग्राह्य नहीं है कि जिसका लोम (रोंआ) तलंवार के सदृश हो। यहाँ **'असि'** से न तो तलवार का बोध है और न ही

'लोमा' से रोएँ का। **'लोमा'— 'लू छेदने'** धातु का बना छेदक है अर्थात् खण्डित करने-वाला है। इसका तात्पर्य यह है कि जो **'असि'** को काटे, वह **'असि-लोमा'** है। फिर यहाँ **'असि'** से तलवार का बोध नहीं है। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **'असि'** से **'ज्ञान'** का बोध है। इस प्रकार **'ज्ञान'** को जो काटे, वह **'असि-लोमा'** है। **'क्रिया-योग-क्रम'** में **'असि' 'इड़ा'** है और **'वरुणा' 'पिंगला'** है। ये दोनों क्रमशः व्यष्टि की **'गङ्गा'** और **'यमुना'** कही जाती हैं। इस प्रकार **'असि'** अर्थात् **'गङ्गा'** या **'ज्ञान-गङ्गा'** में मिलने के पथ को जो खण्डित करे, वही प्रकृति **'असि-लोमा'** है। इस आसुरी सर्ग का सहकारी **'वाष्कल'** है, जिसका अर्थ है रोक कर कलन या संहार करनेवाला— **'वाः— वारयति + कलः = कलयति च।'** यह **'वाष्कल'** षट्-विकार-रूपी है। शास्त्रोक्त षट्-विकार हैं — **१ जन्म लेना, २ रहना, ३ बढ़ना, ४ अन्य रूप में परिणत होना, ५ घटना** और **६ नष्ट होना— 'जायते अस्ति वर्द्धते। विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति।।**

इसीलिए **'वाष्कल'** की सैन्य-संख्या छः सौ अयुत कही गई है— **'अयुतानां शतः षड्भिः, वाष्कलो युयुधे रणे।'** विकारों की संख्या **छः लक्ष** है। ये सब **छः** के ही भेद अवान्तर भेद इत्यादि हैं। संक्षेप में, तात्पर्य यह है कि **'वाष्कल'**— विकारों का उत्पादक सर्ग है।

(७) **विड़ाल—** यह किस **'आसुरी'** सर्ग का प्रतीक है? यह देखना है। इसका निर्णय गुणों के आधार पर ही सम्भव है। **'विड़ाल'** वा **'बिल्ला'** एक **'शिकारी जानवर'** है, जो सर्वदा हिंसा किया करता है, पर इसी **हिंसा**-गुण के आधार पर यह रूपक रहता, तो इसके स्थान पर **बाघ-सिंह** आदि का रूपक दिया जा सकता था। अतएव अन्य गुणों का विचार करना आवश्यक है। यथा— **निःशब्द-गति, लोभ, चतुरता** इत्यादि। **निःशब्द-गति** कुत्तों की भी होती है, पर बिल्ली की जैसी नहीं। फिर **लोभ** तो इसमें अन्य जानवरों की अपेक्षा अत्यन्त अधिक है। इसी मुख्य लक्षण के आधार पर यह प्रतीक यहाँ कहा गया है।

ठीक ही है, क्योंकि **'लोभ'** पाप का मूल है— **'लोभः पापस्य कारणम्।'** इसी से इसका उल्लेख अन्त में है। यह **'लोभ'**-सर्ग जीव में प्रायः **साधनान्त** तक रहता है। यथा— **'मुक्ति'** का लोभ, **'स्वर्ग'** का लोभ आदि-आदि। अतएव अन्य सभी आसुरी सर्गों पर साधना के बल विजय पाकर अन्त में इस पर भी साधक को विजय पानी पड़ती है।

इस प्रकार, **'सप्तशती'** के कथानक में **'महिष'** के सात सेनापति उक्त **चिक्षुर, चामर** आदि हैं। प्रकारान्तर में ये सात **'विकृत या आसुरी प्राण'** हैं। यही सिद्धान्त **'मुण्डक-श्रुति'** का भी है। इसी सिद्धान्त से समुद्रों, लोकों आदि की संख्या सात कही जाती है।

उक्त सातों **'विकृत प्राण-वर्ग'** अपने-अपने असंख्य बलों के सङ्ग **'देवी'** अर्थात् **साधक** की **परं-ज्योति** या **दिव्य ज्ञान** के सङ्ग युद्ध करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि **अन्तर्ज्योति** को आच्छादित कर उसे बुझाने की चेष्टा करते हैं। धुँएँ से ज्वाला जितनी आच्छादित होती है, उतनी ही यह चेष्टा होती है। फिर जैसे **कच्चे विद्यार्थी** को पढ़ने के समय **नींद** सताती है,

स्वाध्याय के बदले निम्न या निकृष्ट कोटि के **रोचक उपन्यास** आदि पढ़ने की ओर या **सिनेमा** देखने जाने के पूर्व **कु-संस्कारावलि** मन को आकृष्ट करती है, वैसे ही साधक को साधना की ओर बढ़ने से ये **'आसुरी'** सर्ग-गण निरस्त करने की चेष्टा करते हैं। यह चेष्टा **स्व-जातीय धारा** को **विजातीय धारा** में बदलने की चेष्टा है। यही **'देवासुर-संग्राम'** है। इस संग्राम में वही साधक विजय-श्री पाता है, जो **सद्-गुरु की कृपा** के बल से पर्याप्त साधना कर लेता है।

'सप्तशती' के उक्त कथानक के क्रमानुसार यहाँ **अधःपतन** अर्थात् **'आसुरी सर्ग-समूह'** से पराजित होने की आशङ्का नहीं है, क्योंकि **'सुरथ'** को प्राथमिक शिक्षा सर्वाङ्ग-पूर्ण रूप से दी गई है, जिससे **'सुरथ'** की आत्मा **वैश्वानर-रूप—तैजस्-रूप** में परिवर्तित हो जाती है। यहाँ माध्यमिक शिक्षा दी जा रही है, जिससे **तैजस्** का सङ्गठन पूर्ण रूप से हो और वह **'प्राज्ञ'**-रूप का हो जाएगा।

'माण्डूक्य श्रुति' के मत से उक्त तीनों १ **वैश्वानर**, २ **तैजस्** और ३ **प्राज्ञ**— एक ही अवस्था-क्रमानुसार रूप हैं। तात्पर्य कि ये तीनों **'प्राज्ञ'** ही के रूप हैं। यथा— **'जाग्रदवस्था'** में बहि-प्रज्ञ **'वैश्वानर'** कहाता है, **'स्वप्नावस्था'** में अन्तः-प्रज्ञ **'तैजस्'** और **'सुषुप्त्यवस्था'** में चैतन्य-प्रज्ञ केवल **'प्रज्ञ'** के नाम से अभिहित है। फिर शिक्षा की बात जो कही गई है, वह केवल सैद्धान्तिक-मौखिक नहीं है। यह तो **ज्ञान-यौगिक** का प्रथमांशिक है। **ज्ञान** के परिपाचन के लिए **'क्रिया-योग'** की आवश्यकता अनिवार्य है। व्यावहारिक शिक्षा, जिसका आज-कल परम अभाव है, **'सुरथ'** को दी गई थी। इसी से उसको प्रत्यक्ष फल मिला, जिसका उल्लेख **'सप्तशती'** के अन्तिम भाग में है कि **'सुरथ'** तीन वर्ष लगातार साधना कर इष्ट के प्रत्यक्ष दर्शन से **'वर'** प्राप्त करता है।

तैजस् आत्मा की मुख्य आराध्य **देवी** हैं— **'तेजो-रूपिणी महा-लक्ष्मी'**। **लक्ष्मी**— **'लक्षयति ददाति इति लक्ष्मीः'** की अपर संज्ञा हैं— **'विमर्श-शक्ति'**, जो **'प्रकाश-शक्ति'** का दूसरा रूप है। ऐसा **'ज्ञान-योग-क्रम'** में है। **'क्रिया योग-क्रम'** में यही **प्राण, तैजस्-कुण्डली** कहलाती है। **'भक्ति-योग-क्रम'** में यह **जगज्जननी**, हमारी **माँ** हैं। यही हमारी सर्वस्व हैं। यही सभी प्रकार के भयों या तापों से हमारी रक्षा करनेवाली हैं। यह हैं तो बुद्धि-रूपिणी, पर बुद्धि के परे **बुद्धि-दात्री** भी हैं। इन्हीं के सम्बन्ध में गीतोक्ति है— **'यो बुद्धेः परतस्तु सः।'**

इसी की प्रसन्नता अभ्युदय का मूल है। **'प्रसन्नता'** से यह तात्पर्य है कि उसको अपने हृदय में ले आना। **'प्रसन्न'**— **'प्र + सद् गमने क्त'** का अर्थ ही है **'प्र' = प्रकृष्ट रूप से + 'सन्नः' = गतः = मिला** हुआ। तभी यह जिस मात्रा में हमारे हृदय में आ बसती है, उसी मात्रा में हमारी बुद्धि प्रस्फुटित होती है। **'गीता'** का भी यह सिद्धान्त है, जो इस उक्ति से सिद्ध है—

तेषां सतत-युक्तानां, भजतां प्रीति-पूर्वकम्। ददामि बुद्धि-योगं-तं, येन मामुपयान्ति ते।।

अर्थात् **मैं उनको वैसी बुद्धि देता हूँ, जो उस युक्ति से मुझको अर्थात् सत्य को प्राप्त करते हैं**

और जो मुझमें ही सतत रहकर मेरा प्रीति-पूर्वक भजन अर्थात् मेरे भाव का सम्वर्धन करते रहते हैं।

अस्तु, **तेजो-रूपिणी महा-लक्ष्मी** की साधना का फल यह होता है कि **आसुरी सर्गों** के उत्पातों को साधक की जगी हुई **प्राण-शक्ति महिषं-मर्दिनी** अनायास दूर कर देती हैं—

साऽपि देवी ते स्वानि शस्त्राण्यस्त्राणि चण्डिका। लीलयैव प्रचिच्छेद, निज शस्त्रास्त्र-वर्षिणी।

इतना ही नहीं। अब साधक के प्रत्येक **निःश्वास** से **'देव'**-सर्ग निकलने लगते हैं और वे **'असुर'**-सर्ग का संहार करते हैं। यह उक्ति कि **निःश्वास से असंख्य देव-गण** या **देव-सर्ग** निकलते हैं, रहस्य-गर्भित है। **निःश्वास** नाम है **श्वास-क्रिया की रहितावस्था** अर्थात् **'कुम्भकावस्था'**, जब श्वास नहीं लिया जाता है और न फेंका ही जाता है। यह **'प्राणायाम-प्रक्रिया'** का मुख्य अङ्ग है, जिसमें **'प्राण-शक्ति'** का सम्वर्धन होता है।

इस प्रकार उक्त उक्ति से यह बोध होता है कि साधक की **'प्राण-शक्ति'** के सम्वर्धन से दिव्य चेतनाएँ उत्पन्न होती हैं। यह **'क्रिया-योग-क्रम'** की बात है। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में प्राणों की स्थिरता से **'मन'** स्थिर होता है और **'मन'** की एकाग्रता से **मानसिक शक्तियाँ** उत्पन्न होती हैं वा बढ़ती हैं, जिससे **'विक्षेप'**-समूह नष्ट होते हैं। इन **प्राण-विकारों** को या **मन के विक्षेपों** को रूपकोक्ति में **असुर-सैन्य** कहा गया है। प्रकारान्तर में ये **उप-सर्ग** हैं, जो सहकारी **दैवी सर्गों** से नष्ट होते हैं।

इन **उप-सर्गों** के नष्ट हो जाने पर **आसुरी सर्ग-गण** एक-एक कर आते हैं। इन सबके प्रहार निष्फल कर दिए जाते हैं, पर इतने ही से काम नहीं बनता। प्रहार-कर्त्ता-गण तो रह ही जांते हैं। ये अभी नहीं, तो कभी पुनः आक्रमण करेंगे। वास्तव में ये **'कर्म-विपाकाशय'** के बीज हैं। इनका दहन आवश्यक है, अन्यथा जब ये सुयोग पाएँगे, तब फिर अंकुरित-पल्लवित होकर उत्पात करेंगे। ये **बीज** कैसे दग्ध होते हैं, इसका उल्लेख यहाँ नहीं है क्योंकि यह **गुरु-मुख** से ही सीखा जा सकता है।

अस्तु, **'चिक्षुर'** आदि का आक्रमण रहस्य-मय है। इसलिए, इनके आक्रमण एवं नाश का विवरण संक्षेप में देना उचित है। **'चिक्षुर'** का प्रथम आक्रमण देवी के वाहन **सिंह** पर होता है। इससे यह बोध होता है कि **साधक** की भित्ति **समग्र धर्म** पर आघात किया जाता है। गुणों को गुण से अर्थात् **धर्मी** को अपने धर्म से च्युत करने का यही **आदि-प्रयत्न** है। इस **प्रयत्न** के निष्फल हो जाने पर **'चिक्षुर'** देवी की **वाम भुजा** पर **तलवार** से प्रहार करता है। बाह्य या स्थूल दृष्टि-कोण से देखने पर यह अयुक्त है क्योंकि **योद्धा** का **दाहिना हाथ** ही युद्ध में अधिक और मुख्य कार्य करता है। प्रतिद्वन्द्वी इसी को बेकार करने का प्रयत्न करता है, न कि **बाँएँ हाथ** को, जो प्रायः केवल रक्षा करता है। इस प्रश्न का समाधान यह है कि **वाम भुजा** पर आक्रमण से **वाम-भाग** में स्थित **हृदय** पर आक्रमण का तात्पर्य है। यदि यह **स्थूल युद्ध** रहता, तो **दक्षिण भुजा** पर ही प्रहार होता।

'चिक्षुर' के दोनों प्रहार निष्फल होते हैं। तात्पर्य कि साधक न **धर्म-च्युत** ही होता है

और न ही उसके हृदय में **विकार** उत्पन्न होते हैं।

प्रथम **खड्ग-प्रहार** निष्फल होने पर **'चिक्षुर'** दूसरा **भाले का प्रहार** करता है। यहाँ **शूल** के प्रहार से यह तात्पर्य है कि **आसुरी वृत्तियों** को वह साधक के हृदय में चुभाता है, किन्तु जब देवी अर्थात् **देवी-भाव-सम्पन्न साधक** उसे **दैवी शूल-बल** से निष्फल कर देता है, तब **'चिक्षुर'** विनष्ट हो जाता है।

इसके बाद **'चामर' हाथी** पर सवार होकर लड़ने आता है। यहाँ **'गज'** शब्द कारक पदार्थ है। इससे यह तात्पर्य है कि पूर्वोक्त **आसुरी सर्ग** के द्योतक **'चिक्षुर'** के नष्ट होने पर क्षणिक **शब्द-कारक** कार्य का आगमन होता है। **साधक** को यह गर्व हो उठता है कि मैंने पहिले बाजी मार ली, परन्तु जब **दूर-दर्शी साधक** इस **मद** को भी नष्ट कर आगे बढ़ते हैं, तो यह **मद साधक के धर्म** से मारा जाता है। इसी से उक्ति है कि **'सिंह'** ने थप्पड़ से **'चामर'** को मार गिराया।

फिर **'उदग्र'** आता है। वह मारा जाता है **शिला** (पत्थर के ढेले) और **वृक्ष** के प्रहारों से। ये उक्तियाँ भी रहस्य-गर्भित हैं क्योंकि **भगवती** के पास **तलवार, बर्छे** आदि अस्त्र-शस्त्र थे ही। फिर **ढेले** और **वृक्ष की शाखाओं** अर्थात् **लाठियों** से काम लेना अनर्थक है। इसका समाधान यह है कि **'शिलन्ति इति शिलाः'— 'शिला'** से **सुशील स्वभाव-वृत्ति** का बोध है, जिससे **'औद्धत्य'** नष्ट होता है और **वृक्ष—उणादि** से साधित शब्द—**वृक्ष** का अर्थ है **काटने-वाला। 'ज्ञान-योग-क्रम'** में **वृक्ष है— 'ज्ञान-वृक्ष'। ज्ञान** से ही **औद्धत्य** काटा जाता है।

पश्चात् **'कराल'** आता है। **'कराल'** भय का उत्पादक सर्ग है, जो **अष्ट-पाशों** में से एक **पाश** है। यह मारा जाता है— **दन्त** और **मुष्टि-प्रहारों** से। **मुक्कों से मारना** तो किसी हद तक युक्त हो सकता है। यद्यपि यहाँ यह पूछा जा सकता है कि जब **देवी** के सभी हाथों में अस्त्र-शस्त्र थे, तो क्या **देवी** ने अस्त्र-अस्त्रों को फेंक दिया? अगर फेंक दियां, तो क्यों? खैर, उस समय **देवी** निरस्त्र हो गई होंगी। इसलिए **मुक्के का प्रहार** किया, परन्तु **दाँतों** से काटना तो फिर भी किसी दशा में महा अयुक्त है।

वस्तुतः **दन्त-दंशन-प्रक्रिया 'क्रिया-योग'** की बात है। यह **जिह्वा** सुतरां **'वाक्-संयम'** की प्रक्रिया है, जिससे **'प्राण'** का निरोध होता है और **'मन'** की एकाग्रता होती है। **दाँतों से अपनी जिह्वा दबाने से** मन की कितनी एकाग्रता आती है, यह कोई भी जान सकता है। रही **'मुष्टिका'** के तल-प्रहार की बात। यह भी **'कुण्डली-उत्थान'** की एक प्रक्रिया ही है। यह एक प्रकार की **'मुद्रा'** है, जिससे **'कुण्डली'** को नीचे से ठोकर मार-मार ऊपर उठाया जाता है। यहाँ उठने से **विकार के नाश** का अर्थ है। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **'मुष्टि-बन्धन'** से **दृढ़ता का बोध** है। तात्पर्य कि **ज्ञान के दृढ़ प्रहारों से द्वैत-भाव-जन्य भय** का नाश होता है। **'भक्ति-योग-क्रम'** में **उपास्य में दृढ़ विश्वास** से सभी प्रकारों के **भयों का निवारण** होता है।

फिर **उद्धत, वाष्कल, ताम्र** एवं **अन्धक** क्रमशः **गदा, भिन्दिपाल** और **बाणों** से मारे जाते

हैं। **'उद्धत'** और **'वाष्कल'** का परिचय पहिले दिया जा चुका है। ये दोनों क्रमशः **'गदा'** और **'भिन्दिपाल'** नामक आध्यात्मिक **'ज्ञान-योग-क्रम'** में और आधिदैविक **'क्रिया-योग-क्रम'** में आयुध-द्वय हैं। पहिला वह आयुध है, जो **उद्धत** है, जो औद्धत्य को चूर्ण-विचूर्ण कर देता है। यह है एक विशिष्ट प्रकार का **विवेक,** जो **जीव** को **उद्धत** होकर **असत्-मार्ग** पर जाने से रोकता है। **'वाष्कल'** नष्ट होता है **'भिन्दिपाल'** से। यह वह **मानसिक शक्ति** है, जो **सत्** और **असत्** के भेद का पालन करती है। आंग्ल भाषा में इस मन-शक्ति को **'पावर आफ डिसक्रिमिनेशन'** कहते हैं। यह **षट्-विकारों** के परिणाम से जीव को परिचय करा कर अलग रखता है। **'ताम्र'** निकृष्ट आकांक्षा-भाव है— **'तमु कांक्षायां + रक् उणादि'** और **'अन्धक'** है अन्धा बनानेवाला आसुरी सर्ग। यह **'अन्धक'** जिस प्रकार **'ताम्र'** या **'काम'** का सहकारी सर्ग है, उसी तरह **'क्रोध'** आदि सर्गों का भी है। इसी से **कामान्ध, क्रोधान्ध, लोभान्ध** इत्यादि वाक्यों का प्रयोग होता है। ये दोनों **'शर-प्रयोग'** से नष्ट होते हैं अर्थात् **ज्ञान-शर** के प्रयोग से। **'क्रिया-योग-क्रम'** में **'शरास्त्र'** **'प्राणायामास्त्र'** है। **प्राणों के संयमन** से स्वतः **'मन'**— संयमन होता है, जिससे जीवन न कामी होता है और न काम-क्रोध आदि से अन्धा या **'ज्ञान-हीन'** ही होता है।

इसके बाद **उग्रास्य, उग्र-वीर्य** एवं **महा-हनु** का नाश होता है। **'उग्र'** जिसका **'आस्य'** (मुख) हो, वह **उग्रास्य** है। यह **आध्यात्मिक ज्ञान** का विरोधी **'कुतर्क'** है। सभी जानते हैं कि **कुतर्कियों** का मुख या वचन बड़ा ही उग्र होता है। आत्मा के अस्तित्व के खण्डक वड़े ही वाचाल या **'उग्रास्य'** होते हैं। इनको **कुतार्किक** के बदले **तार्किक** भी कह सकते हैं क्योंकि इनका **द्वैत-वादी** सिद्धान्त है। ये ही बड़े **'उग्र-वीर्य'** होते हैं अर्थात् **उग्र** या **उद्भट विद्यावान्** होते हैं, पर इनकी प्रकाण्ड विद्या भी विवाद के लिए ही होती है, न कि यथार्थ ज्ञान के लिए। इसी से उक्ति है कि **'विद्या'** खेल में विवाद या वितण्डा का साधन है। **'धन'** मद का और **'शक्ति'** है पर-पीड़न का। इसके विपरीत ये तीनों सज्जनों में क्रमशः, **ज्ञान, दान** और **रक्षण** के साधन हैं। ये अपनी **विद्या** का किस प्रकार दुरुपयोग करते हैं, यह उन नामी विद्वानों से प्रकट है, जो **देवी जगत्** के अस्तित्व का खण्डन तर्कों के आधार पर करते हैं। **'महा-हनु'** भी इसी कोटि के विरोधी सर्ग हैं, पर जिस तरह **'उग्रास्य'** से निम्न है **'उग्र-वीर्य',** उसी तरह **'महा-हनु'** तीनों में **निम्न**-तम है। यह **आधिभौतिक विकार** का उत्पादक है, जिससे **जीव** का **सामान्य धर्म— नैतिकता** नष्ट होती है। तात्पर्य कि जहाँ **'उग्रास्य' आध्यात्मिक विकार** का उत्पादक है, वहाँ **'उग्र-वीर्य'** और **'महा-हनु'** क्रमशः **आधि-दैविक** और **आधि-भौतिक** विकार के उत्पादक हैं। ये तीनों नष्ट होते हैं **'त्रिशूल'** अर्थात् **'त्रि-ज्ञान'** से। इसी से उक्ति है कि **'त्रि-नेत्रा देवी'** ने **'त्रि-शूल'** से इन तीनों को मारा— **'त्रि-नेत्रा च त्रि-शूलेन, जघान परमेश्वरी।'**

अब यह **'त्रि-ज्ञान'** क्या है, इसकी विवेचना करना है। दार्शनिक दृष्टिकोण से 'त्रि-ज्ञान' है— **१ मातृ, २ मान** और **३ मेय-ज्ञान।** १ **'मातृ'-ज्ञान** है— मान करनेवाले का ज्ञान

अर्थात् मैं कौन हूँ, कैसा हूँ इत्यादि का ज्ञान, २ **'मान'-ज्ञान** है— प्रमाण-ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान से हम किसी सत्य— निष्कर्ष पर पहुँच पाते हैं और ३ **'मेय'-ज्ञान** है— उसका ज्ञान, जिसके पास हम जाना चाहते हैं अर्थात् हम जिसको पाना चाहते हैं, वह क्या है, उसके प्राप्त करने से क्या लाभ है, इत्यादि। अपने ज्ञान से हम शरीरस्थ **'उग्रास्य'** का नाश कर सकते हैं। **'मान'-ज्ञान** से **'उग्र-वीर्य'** का और **'मेय'-ज्ञान** से **'महा-हनु'** का नाश कर सकते हैं, परन्तु ऐसा हम तभी कर पाते हैं, जब हमारा **'त्रि-ज्ञान'** दैवी या **दिव्य** हो। इस **'त्रि-ज्ञान'** की शास्त्रीय संज्ञा है— **'त्रिपुटी-ज्ञान'**। प्रकारान्तर में इसको **'त्रि-काल-ज्ञान'** भी कह सकते हैं। सभी दर्शनों का एक यही उद्देश्य है कि हम कौन वा क्या थे, क्या हैं और क्या होंगे? इसका ज्ञान प्राप्त करना! इसकी प्राप्ति होती है— **मेधस् गुरु** से।

अन्त में सेनापति **'विड़ालासुर'** लड़ने आता है। **'विड़ाल'** का परिचय पाठकों को हो चुका है। यह मारा जाता है— **'तलवार'** से। **'विड़ाल'** लोभ है, जिसको प्रकारान्तर में **'काम'** भी कहते हैं। **'काम'** की उत्पत्ति सङ्ग से है— **'सङ्गात् संञ्जायते कामः'**— (गीता)। अतएव यह **निःसङ्ग** से नष्ट होता है। **निःसङ्ग** होने का अर्थ है— **अपने को किसी वृत्ति से दूर रखना।** दूसरे शब्दों में सभी **विषय-वृत्तियों** को काटने अर्थात् दूर रखने से **निःसङ्ग** हो सकते हैं। **'सङ्ग'** **पाञ्च-तन्मात्रिक है— १ सुनने से, २ स्पर्श से, ३ देखने से, ४ चखने से** और **५ सूँघने से** **'सङ्ग'** होता है। इन पाँचों का मूल है **'मस्तिष्क'**। इसको **काटना** ही निष्क्रिय करना है। यह **'प्राण-संयम'** (प्राणायाम) से होता है। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **मनः-संयम** या **मन के निरोध-योग** से होता है।

'विड़ालासुर' के साथ ही **'दुर्द्धर'** और **'दुर्मुख' 'शर'**-प्रहार से मारे जाते हैं। **'दुर्द्धर'** जीव की दुष्ट भाव की धारण करनेवाली चित्त-वृत्ति है। **'मन'** पानी जैसा नीच-गामी है। यह **मन** की प्रकृति या स्वभाव है। इस प्रकृति या स्वभाव को परिवर्तन करने के लिए उच्च कक्षा का संयम आवश्यक है। तभी **'मन'** की ऊर्द्ध गति होती है। इसी दुष्ट वृत्ति को वचन के द्वारा व्यक्त करनेवाला **'दुर्मुख'** है। तात्पर्य है कि दुष्ट वचन बोलनेवाला ही **'दुर्मुख'**-पद-वाच्य है। ये **'ज्ञान-योग-क्रम'** में—**'ज्ञान'**-शर से और **'क्रिया-योग-क्रम'** में **'प्राण'**-शर से नष्ट होते हैं।

देवासुर-संग्राम

'सप्तशती' के कथानक में **'महिष'** के सात सेनापति **चिक्षुर, चामर** आदि हैं। प्रकारान्तर में ये सात **'विकृत या आसुरी प्राण'** हैं। सातों **'विकृत प्राण-वर्ग'** अपने-अपने असंख्य बलों के सङ्ग **'देवी'** अर्थात् **साधक** की **परं-ज्योति** या **दिव्य ज्ञान** के सङ्ग युद्ध करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि **अन्तर्ज्योति** को आच्छादित कर उसे बुझाने की चेष्टा करते हैं। यह चेष्टा **स्व-जातीय धारा** को **विजातीय धारा** में बदलने की चेष्टा है। यही **'देवासुर-संग्राम'** है। इस संग्राम में वही साधक विजय-श्री पाता है, जो **सद्-गुरु की कृपा** के बल से पर्याप्त साधना कर लेता है।

आत्म-शक्ति भद्र-काली

राग-द्वेष-रूपी महा-मोह के सातों सेनापति जब **साधक** की देवी **सप्त-शक्तियों** के द्वारा नष्ट गए, तब **'महिष'** स्वयं रण-क्षेत्र में उतरा। सर्व-प्रथम वह भैंसे के रूप में आया। **साधक देवी सम्पत्तियों** पर तुण्ड से, खुर से, दो-लत्तियों से, पुच्छ से, शृङ्ग-द्वय से प्रहार करने लगा। इन प्रहारों से **देवी-गण** या **दैवी सम्पत्तियों** पर आघात हुआ। इसके अतिरिक्त अपने प्रबल वेग से भी उसने उक्त सम्पत्तियों को धराशायी किया अर्थात् नीचे दबाया। ये देवी-गण **'आत्मा-रूपिणी देवी'** की **धर्म-शक्तियाँ** हैं, जिनसे यह घिरी रहती है। इसी से ये **'परिषद्'** कहलाती हैं। फिर इनको **'प्रमथ'-दृष्टान् दुष्ट-भावान् प्रमथाः'** भी कहते हैं। **'महिष'** ने इन सबको नीचे दबाया। इससे यह बोध है कि इनका ह्रास कर निष्क्रिय-प्राय कर दिया। तत्पश्चात् **'महिष'—सिंह** को नष्ट करने की प्राण-पण से चेष्टा करने लगा। **प्राण-शक्ति**-रूपिणी **आत्म-शक्ति भद्रकाली** ने जब देखा कि **'महिष'** मेरी अमुख्य **धर्म-शक्तियों** को परास्त कर मेरी मुख्य **धर्म-शक्ति**-रूपी **सिंह** को भी, जो मेरा अधिष्ठान है, नष्ट करने पर तुला है, तो उसको बड़ा **'क्रोध'** हुआ। **'क्रोध'** हुआ— इससे तात्पर्य है

'सप्तशती-तत्त्व' के लेखक श्री श्यामानन्दनाथ जी गुप्तावतार बाबाश्री ने आपको 'कौल-कल्पतरु' की उपाधि से विभूषित किया था।

अर्थात् मैं कौन हूँ, कैसा हूँ इत्यादि का ज्ञान, २ **'मान'-ज्ञान है**— प्रमाण-ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान से हम किसी सत्य— निष्कर्ष पर पहुँच पाते हैं और ३ **'मेय'-ज्ञान है**— उसका ज्ञान, जिसके पास हम जाना चाहते हैं अर्थात् हम जिसको पाना चाहते हैं, वह क्या है, उसके प्राप्त करने से क्या लाभ है, इत्यादि। अपने ज्ञान से हम शरीरस्थ **'उग्रास्य'** का नाश कर सकते हैं। **'मान'-ज्ञान** से **'उग्र-वीर्य'** का और **'मेय'-ज्ञान** से **'महा-हनु'** का नाश कर सकते हैं, परन्तु ऐसा हम तभी कर पाते हैं, जब हमारा **'त्रि-ज्ञान'** दैवी या **दिव्य** हो। इस **'त्रि-ज्ञान'** की शास्त्रीय संज्ञा है— **'त्रिपुटी-ज्ञान'**। प्रकारान्तर में इसको **'त्रि-काल-ज्ञान'** भी कह सकते हैं। सभी दर्शनों का एक यही उद्देश्य है कि हम कौन वा क्या थे, क्या हैं और क्या होंगे? इसका ज्ञान प्राप्त करना! इसकी प्राप्ति होती है— **मेधस् गुरु** से।

अन्त में सेनापति **'विड़ालासुर'** लड़ने आता है। **'विड़ाल'** का परिचय पाठकों को हो चुका है। यह मारा जाता है— **'तलवार'** से। **'विड़ाल'** लोभ है, जिसको प्रकारान्तर में **'काम'** भी कहते हैं। **'काम'** की उत्पत्ति सङ्ग से है— **'सङ्गात् संज्जायते कामः'**— (गीता)। अतएव यह **निःसङ्ग** से नष्ट होता है। **निःसङ्ग** होने का अर्थ है— **अपने को किसी वृत्ति से दूर रखना।** दूसरे शब्दों में सभी **विषय-वृत्तियों** को काटने अर्थात् दूर रखने से **निःसङ्ग** हो सकते हैं। **'सङ्ग'** **पाञ्च-तन्मात्रिक है— १ सुनने से, २ स्पर्श से, ३ देखने से, ४ चखने से** और **५ सूँघने से** **'सङ्ग'** होता है। इन पाँचों का मूल है **'मस्तिष्क'**। इसको **काटना** ही निष्क्रिय करना है। यह **'प्राण-संयम'** (प्राणायाम) से होता है। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **मनः-संयम** या **मन के निरोध-योग** से होता है।

'विड़ालासुर' के साथ ही **'दुर्द्धर'** और **'दुर्मुख'** **'शर'**-प्रहार से मारे जाते हैं। **'दुर्द्धर'** जीव की दुष्ट भाव की धारण करनेवाली चित्त-वृत्ति है। **'मन'** पानी जैसा नीच-गामी है। यह **मन** की प्रकृति या स्वभाव है। इस प्रकृति या स्वभाव को परिवर्तन करने के लिए उच्च कक्षा का संयम आवश्यक है। तभी **'मन'** की ऊर्द्ध गति होती है। इसी दुष्ट वृत्ति को वचन के द्वारा व्यक्त करनेवाला **'दुर्मुख'** है। तात्पर्य है कि दुष्ट वचन बोलनेवाला ही **'दुर्मुख'**-पद-वाच्य है। ये **'ज्ञान-योग-क्रम'** में—**'ज्ञान'**-शर से और **'क्रिया-योग-क्रम'** में **'प्राण'**-शर से नष्ट होते हैं।

देवासुर-संग्राम

'सप्तशती' के कथानक में **'महिष'** के सात सेनापति **चिक्षुर, चामर** आदि हैं। प्रकारान्तर में ये सात **'विकृत या आसुरी प्राण'** हैं। सातों **'विकृत प्राण-वर्ग'** अपने-अपने असंख्य बलों के सङ्ग **'देवी'** अर्थात् **साधक** की **परं-ज्योति** या **दिव्य ज्ञान** के सङ्ग युद्ध करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि **अन्तर्ज्योति** को आच्छादित कर उसे बुझाने की चेष्टा करते हैं। यह चेष्टा **स्व-जातीय धारा** को **विजातीय धारा** में बदलने की चेष्टा है। यही **'देवासुर-संग्राम'** है। इस संग्राम में वही साधक विजय-श्री पाता है, जो **सद्-गुरु की कृपा** के बल से पर्याप्त साधना कर लेता है।

आत्म-शक्ति भद्र-काली

राग-द्वेष-रूपी महा-मोह के सातों सेनापति जब **साधक** की दैवी **सप्त-शक्तियों** के द्वारा नष्ट हो गए, तब **'महिष'** स्वयं रण-क्षेत्र में उतरा। सर्व-प्रथम वह भैंसे के रूप में आया। **साधक** की **दैवी सम्पत्तियों** पर तुण्ड से, खुर से, दो-लत्तियों से, पुच्छ से, शृङ्ग-द्वय से प्रहार करने लगा। इन प्रहारों से **देवी-गण** या **दैवी सम्पत्तियों** पर आघात हुआ। इसके अतिरिक्त अपने प्रबल वेग से भी उसने उक्त सम्पत्तियों को धराशायी किया अर्थात् नीचे दबाया। ये देवी-गण **'आत्मा-रूपिणी देवी'** की **धर्म-शक्तियाँ** हैं, जिनसे यह घिरी रहती है। इसी से ये **'परिषद्'** कहलाती हैं। फिर इनको **'प्रमथ'-दूष्टान् दुष्ट-भावान् प्रमथाः'** भी कहते हैं। **'महिष'** ने इन सबको नीचे दबाया। इससे यह बोध है कि इनका ह्रास कर निष्क्रिय-प्राय कर दिया। तत्पश्चात् **'महिष'— सिंह** को नष्ट करने की प्राण-पण से चेष्टा करने लगा। **प्राण-शक्ति**-रूपिणी **आत्म-शक्ति भद्रकाली** ने जब देखा कि **'महिष'** मेरी अमुख्य **धर्म-शक्तियों** को परास्त कर मेरी मुख्य **धर्म-शक्ति**-रूपी **सिंह** को भी, जो मेरा अधिष्ठान है, नष्ट करने पर तुला है, तो उसको बड़ा **'क्रोध'** हुआ। **'क्रोध'** हुआ— इससे तात्पर्य है

'सप्तशती-तत्त्व' के लेखक श्री श्यामानन्दनाथ जी गुप्तावतार बाबाश्री ने आपको 'कौल-कल्पतरु' की उपाधि से विभूषित किया था।

कि विशेष **'स्फुरत्ता-शक्ति'** का प्रादुर्भाव हुआ। **'क्रोधी'** तो **'दुर्गा'** है ही। इसी से उसको **'चण्डी'** या **'चण्डिका'** कहते हैं, जिसका अर्थ है **'कोप-वती'**। **'चण्डी'**-पद **'चडि कोपे'** धातु से बना है। इसको ठेठ भाषा में बिगड़ैल कह सकते हैं क्योंकि यह अपने सूक्ष्मत्व-स्वभाव-वश थोड़ा-सा भी व्यतिक्रम नहीं सह सकती।

'कोप' की **स्फुरत्ता** नैसर्गिकी होने पर भी यहाँ सर्ग या कारण-युक्त सर्गिकी है। यह **'प्रति-क्रिया-रूपिणी'** भी है, जिससे **शक्ति** बहुत बढ़ जाती है। इसी से **प्राण-शक्ति** ने या **मनः शक्ति** ने **'महिष'** को **'पाश'** में बाँध लिया। **'क्रिया-योग-क्रम'** में **'पाश'** से **'बन्ध'** का अभिप्राय है। **'बन्ध'** तीनों स्थानों पर हैं, जिससे तीन प्रकार के कहे गए हैं— **१ मूल-बन्ध, २ उड्डीयाण बन्ध** और **३ जालन्धर बन्ध।** यहाँ **'बन्ध'** से द्वितीय बन्ध अर्थात् **'उड्डीयाण बन्ध'** का बोध है क्योंकि यही **'माध्यमिक बन्ध'** है। इससे **'प्राण-शक्ति'** (साथ ही **'मनः-शक्ति'**) बाँधी जाकर दृढ़ या बलवती हो जाती है। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **'पाश'** **'मनो-बन्ध'** है, जो स्वाध्याय-रूप निदिध्यास से होता है।

'महिष'-वृत्ति अर्थात् **राग-द्वेष**-रूप **महा-मोह** जब बाँध लिया गया, तब वह **'सिंह'**-रूप हो जाता है अर्थात् केवल **द्वेष** या **हिंसा**-रूप हो जाता है। तात्पर्य **'राग'** और **'द्वेष'** में केवल **राग'** ही बँधा रहा और **'द्वेष'** खुला रहा। अब ज्यों ही देवी इसको **'खड्ग'** से काटने लगी, तभी इसका भी रूप बदल गया और **'खड्ग-हस्त'** पुरुष-रूप में आ लड़ने लगा। यह **पुरुष** यथार्थतः क्या है, इसकी विवेचना से पूर्व उक्त **'सिंह'** का परिचय आवश्यक है। **'सिंह'** वैसे तो **धर्म-रूप** है, पर यह **'सिंह' धर्माभास-रूप** है, जैसा कि **'भण्डासुर'** था। यह है **अधर्म** का **धर्माभास** अर्थात् **अधर्म** को **धर्म-रूप** समझना। यह महा-भयानक शत्रु है क्योंकि यह हम जीवों का **अधर्म** या **अकर्त्तव्य** को **धर्म** या **कर्त्तव्य**-जैसा बोध कराता है।

'खड्ग-पाणि पुरुष' से **'ज्ञान-खण्डक गुण-सम्पन्न गर्वी'** का तात्पर्य है। **'नर'** का प्रधान गुण है **'दर्प'**। **'दर्पी'** का नाश **'शर'** से होता है। अर्थात् **'ब्रह्म-शर'** के प्रहार अथवा **'ब्रह्म-ज्ञान'** से होता है। यह **'प्राण-शर' 'प्राणायाम'** की ध्यानावस्था है, जिसका सर्व-श्रेष्ठ रूप **'समाधि'**-अवस्था है क्योंकि ध्यानावस्था में जितना **'प्राण'** का आयमन (स्थिरता) रहता है, उसका बारह गुना समय ही **'समाधि'** कहलाता है। इस पर **'महिष'**-सर्ग की **'महा-गज'**-सर्ग में परिणति होती है।

'महा-गज'-सर्ग **'अहम्मन्यता भाव-परक'** है। **'महिष'** रूप से **'सिंह'**-रूप, फिर **'पुरुष'**-रूप तब **'महा-गज-रूप'** होता है। संक्षेप में इन रूपकोक्तियों से तात्पर्य यह है कि **'राग-द्वेष'** का **'हिंसा'**-रूप में आक्रमण होता है। फिर वही **'अहम्मन्यता-भाव'** में प्रकट होता है, जो **'पुरुष'** या **'नर'** की अपनी एक विशेष लक्षणा है। **'पुरुष'** का **अहम्मन्यता-भाव** असफल होने पर वह केवल डींग हाँकनेवाला रह जाता है। इससे भी जब साधक नहीं डरता, तो अन्ततोगत्वा वह अपने असली रूप **'महिष'** या **'महा-मोह-रूप'** से आक्रमण करता है। यहाँ **'महिष'**-रूप से **'महा-मोह-रूपी राग-द्वेष'** के बीज का तात्पर्य है, जो अपने **'सप्त-महा-रथी'**

अर्थात् **'अज्ञान की सातों भूमिकाओं'** के नष्ट होने पर भी, निराधार होकर भी, रह ही जाता है, जो बाधा डाला करता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शास्त्रों में जहाँ **'सप्त-ज्ञान भूमिकाओं'** को **१ भूर्लोक, २ भुवर्लोक, ३ स्वर्लोक, ४ महर्लोक, ५ जोन-लोक, ६ तपो-लोक** एवं **७ सत्य-लोक** कहा गया है, वहाँ **'सातों अज्ञान-भूमिकाओं'** को **१ अतल, २ वितल, ३ सुतल, ४ तलातल, ५ महा-तल ६ रसातल** और **७ पाताल** कहा गया है।

अस्तु। **'महिष' 'अहङ्कार'**-रूप में लड़ता है। इसका तात्पर्य यह है कि अहङ्कार साधक के हृदय को कलुषित करता है। ठीक ही है, साधक ने **'राग-द्वेष'** पर विजय पा ली। इससे उसमें अपनी विजय का गर्व हो आया, परन्तु **'बुद्धि'**-रूपिणी **महा-माया भगवती** की कृपा से साधक को अपने दोष या त्रुटि का अनुभव होता है। इससे वह प्रतिकार करता है कि किस प्रकार **'मोह'** के पञ्जे से वह छुटकारा पाए। इसका एक-मात्र उपाय है पुनः-पुनः वा मुहुर्मुहुः **'पान'**। यह **पान** क्या है? यह क्या किसी विशेष **औषधि का पान** है या स्फूर्ति लानेवाली **'सुरा'** है? नहीं, **'क्रिया-योग-क्रम'** में यह है **'प्राण'** या **'प्राण-वायु का पान'**। इसी सिद्धान्त पर **'तन्त्र'** की उक्ति है—

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा, पतित्वा धरणी-तले। उत्थाय च पुनः पीत्वा, पुनर्जन्म न विद्यते।।

अर्थात् पीकर, पीकर, फिर पीकर धरणी-तल पर गिर पड़े। फिर उठकर पीकर जन्म-मरण से मुक्ति पाता है। यह एक विशिष्ट **'प्राण-योग'** (कुण्डली-योग) की एक उच्च कोटि की प्रक्रिया है, जो गुरु-मुख से ही ज्ञातव्य है। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में यही **महा-वाक्य— 'सोऽहम्', 'तत्-त्वमसि'** आदि का **'रस-पान'** या **'भाव'** का हृदयङ्गम करना है। यह **'रस'** या **'तत्त्व-ग्रहण'** की सीमा नहीं है। फिर **'भक्ति-योग-क्रम'** में **महा-वाक्यों** के बदले अपने इष्ट के **'नामामृत-पान'** का तात्पर्य है। इस **'नामामृत-पान'** के सद्यः फल का अनुभव उन्हीं भक्तों को होता है, जो विधि-पूर्वक **'अहर्निश नाम एवं गुण-कीर्त्तन'** करते रहते हैं। इसमें कितना आनन्द है, यह अवर्णनीय है। इस **'आनन्द-भाव'** की सूचक है यह उक्ति कि **देवी महिष-मर्दिनी** हँसने लगी— **'जहासारुण-लोचना'**।

यहाँ जो कहा गया है कि भगवती की आँखें लाल हो गई, सो इस हेतु नहीं कि उन्होंने **मद्य** पी ली अथवा उनको अधिक क्रोध हुआ। आँख बल-वीर्य की अधिकता से लाल होती है। **'प्राणायाम'** पर्याप्त मात्रा में करने से आँख स्वतः अर्थात् बिना अन्य कारण से लाल हो जाती है। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में पर्याप्त मात्रा में आँख बन्द कर मनन करने से भी आँख लाल हो जाती है।

भगवती दुर्गा अर्थात् **दुर्गा-गत** साधक, अथवा **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **अद्वैत-भावापन्न** साधक, **'क्रिया-योग-क्रम'** में **स्थिर-प्राण-साधक** और **'भक्ति-योग-क्रम'** में **निर्भरा-भक्ति-सम्पन्न** साधक जब **पान** करता था, तब **महिष** खूब तर्जन-गर्जन कर रहा था। इससे ऐसा बोध है कि साधक में

'अहङ्कार-भाव' की आँधी बह रही थी। ठीक भी है, **पान-प्रक्रिया** पूर्ण होने पर ही तो **महिष** 'काबू' में आएगा। **पान-प्रक्रिया** जब सम्पूर्ण हो गई, तब साधक महिष-वृत्ति को पाँव तले दाब, शिखा को पकड़ **'कण्ठ'**-प्रदेश में **शूल** का प्रहार करता है। **'हृदय'** में न कर **'कण्ठ'** में प्रहार करता है। इसमें यह रहस्य है कि **'हृदय' 'धारणा'** या **'भावना'** का स्थान है। **'कण्ठ'** भाव-व्यक्ति का स्थान है। सर्व-प्रथम **जीव** का लक्ष्य यह है कि किसी प्रकार के **भाव** (यहाँ **आसुरी भाव**) न रहें। इसी हेतु **आसुरी भावों** के उद्‌गम-स्थान **मस्तिष्क** (सिर) को **'ज्ञान'**-रूप असि से काट डाला जाता है। फिर व्यक्ति-स्थान **'कण्ठ'** का **'ज्ञान'**-शूल से अवरोध किया जाता है।

कथानक के शब्दार्थ से हम जानते हैं कि **'महिषासुर'** मारा गया, पर यह रहस्यार्थ से सिद्ध नहीं होता। तात्पर्य कि यह **'महिष'** निष्प्राण नहीं हो सकता। यह अच्छी तरह वशीभूत कर लिया जाता है। यह गुण-त्रय के परिचय से सिद्ध है कि **'तामस'** आच्छादक शक्ति है, **'राजस्'** उत्तेजक या दीप्ति-कारक शक्ति है और **'सत्त्व'** प्रकाशिका शक्ति है। **तामस्** और **सत्त्व** इन दोनों गुणों को बढ़ानेवाला **'राजस्'** है। **'तामस्'** और **'सत्व'** बिना **'राजस्'** की सहायता से क्रिया-शील नहीं हो सकते। **'राग'** ही का दूसरा नित्य **सम्बन्ध-गुण 'द्वेष'** है। हम इसी गुण से एक वस्तु को पसन्द करते हैं और दूसरे को नापसन्द। **'महिष'**-द्योतित **'राग'** का वाञ्छनीय रूप वह है, जो **'सत्त्व'**-गुण का सम्वर्धन करता है और अवाञ्छनीय वह है, जो **'तमो-गुण'** या **'अज्ञान'** को बढ़ाता है। **रजो गुण** सत्त्व-गुण में अन्तर्निहित रहता ही है। अन्यथा **सत्त्व-गुण** की वृद्धि सम्भव नहीं है।

अवशेष में इतना और कहना है कि **'महिषासुर'** का वध एक ही बार नहीं हुआ है। **'तन्त्र-शास्त्र'** की **'महा-काल-संहिता'** में इसका उल्लेख मिलता है कि **'महिष'** का तीन कल्प में तीन बार वध हुआ है। इसी से **'महिष-मर्दिनी भगवती दुर्गा'** के तीन प्रकार के प्रधान ध्यान हैं। यथा—

'रम्भ'-नाम के **कल्प** में **'रम्भासुर'** का लड़का **'महिषासुर'** था। इसका वध महा-घोर-स्वरूपा **अष्टादश-भुजी उग्रचण्डा**-संज्ञिका **दुर्गा** से हुआ। दूसरी बार **'नील-लोहित कल्प'** में यह **षोडश-भुजी दुर्गा** से मारा गया। इनकी संज्ञा है **'महा-माया भद्रकाली'**। तीसरी बार **'श्वेत-वाराह कल्प'** में यही **'महिषासुर'**— **'दश-भुजी ललिता**-संज्ञिका **कात्यायनी दुर्गा'** से मारा गया। इसी से **'शारदीय पूजा'** के तीन प्रकार के **कल्प** हैं—

(१) **प्रथम कल्प** है एक **'पक्ष'** या **पन्द्रह दिनों** का **आश्विन कृष्ण नवमी** से लेकर **आश्विन शुक्ल नवमी** तक। (२) **आश्विन शुक्ल प्रतिपदा** से **नवमी** तक **नौ दिनों** का और (३) तीन दिनों का **सप्तमी, अष्टमी** एवं **नवमी**। (मिथिलाञ्चल में **द्वितीय कल्प** और वङ्ग देश में **तृतीय कल्प** का प्रचलन है)।

कहा गया है कि **'महिषासुर' 'रम्भासुर'** से उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार **'महिषासुर'** कोई

जीव नहीं है, आसुरी सर्गों का प्रधान **महा-मोह** है, उसी प्रकार **'रम्भासुर'** कोई जीव नहीं है। यह **'प्राणों'** या **'मन'** का कु-स्पन्दन-जनित **कु-रव** है। **'रम्भ'**- पद **'रभि शब्दे'** की धातु से उत्पन्न होता है। **स्पन्द** (स्पन्दन) नाम **गति** का है। **'प्राण'** और **'मन'** दोनों की **गतियाँ** हैं। इन **गतियों** में जब विषमता आती है, तभी **'कु-रव'** अर्थात् **'कुत्सित रव'** या **'नाद'** होने लगता है। इसी **'रम्भ'** या **'कु-रव'** का परिणाम है— **'विकार'** या **'मोह'**। इसी से **महिष** की उत्पत्ति है और **'महिषासुर'** का **'रम्भासुर'** से जन्म लेना एक ही बार लिखा है, दूसरी बार या तीसरी बार नहीं।

इस सम्बन्ध में एक और विषय भी उल्लेखनीय है। यद्यपि यह **'मार्कण्डेय पुराण'** में नहीं कहा गया है, तथापि **'तन्त्र-शास्त्र'** के एक प्रामाण्य ग्रन्थ **'महा-काल संहिता'** में कहा जाने से माननीय है। यह कोई साधारण उक्ति नहीं है। रहस्यार्थ के विचार से इसका महत्त्व ज्ञात होता है कि इसके बिना **'महिषासुर'** के वध का रहस्य-ज्ञान अपूर्ण रह जाता है। कथानक यह है कि **'महिषासुर'** ने **भगवती महा-माया** से तीन वरों की याचना की—

(१) **सौम्य-मूर्ति** से मेरा वध हो, (२) मेरे **प्राण-युक्त सिर** पर तुम्हारा **एक पैर** सर्वदा रहे और (३) तुम्हारे सभी **यज्ञों में मुझे भाग मिले।**

प्रथम प्रार्थना का रहस्यार्थ यह है कि **'सौम्य साधना'** के द्वारा मेरे सर्गाणु (बीज) का नाश हो क्योंकि आदि में जो इसका वध हुआ था, वह **'उग्र-चण्डा'** की उग्र साधना से। अब तो संसार के जीवों में यह बल नहीं कि उस प्रकार की घोर साधना करे।

फिर यह कैसी बात कि **मुझे मारो, पर मैं जीवित रहूँ!!** और **मैं जीव-द्वेषी होने पर भी यज्ञ में भाग पाऊँ!!** ऐसी आश्चर्य-जनक उक्ति **'महिष के वध'** के सम्बन्ध में न **'मार्कण्डेय पुराण'** में और न **'श्रीदेवी महा-भागवत'** में ही पाई जाती है। केवल यही उक्ति है कि इसका **सिर महा-असि से काट गिराया गया।** फिर **उसके सिर पर भगवती पैर कैसे रखे है?**

जैसा कि पूर्व कहा गया है, यह **'महिष'** न मर सकता है, न मारा ही जा सकता है। जब तक **गुण-मय जीव** है, तब तक यह **'रजो-गुण-स्वरूप महिष'** रहता ही है, पर **सिद्ध साधक** के पाँव तले (वश में) और **असिद्ध साधक** में **'इन्द्र'** या **'हृदयेश्वर'** होकर। अब रही **'यज्ञ'** का भाग लेने की बात। यह भी इससे स्पष्ट है कि **'यज्ञ'** अर्थात् **'प्राण'-साधन** या **आत्म-साधन** आदि. क्रियाओं में इसकी अर्थात् **सम्वर्धन-शक्ति** की आवश्यकता रहती ही है। यही है **'महिष'** का **यज्ञ-भाग** का लेना।

'महिषासुर-वध-लीला' का यह एक प्रकार का रहस्य है। इसी की शिक्षा **सुरथ** को दी गई एवं सभी **मनीषी साधक** पाते हैं। यह पढ़ने मात्र की वस्तु नहीं है। इसके अनुसार साधन भी करना उचित है— **'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'** पढ़ना है— **'श्रवण'** वाच्यार्थ एवं रहस्यार्थ समझना है— **'मनन'** और फिर इष्ट-साधनार्थ प्रयत्न करना है— **'निदिध्यास'**।

'अहङ्कार-भाव' की आँधी बह रही थी। ठीक भी है, **पान-प्रक्रिया** पूर्ण होने पर ही तो **महिष** 'काबू' में आएगा। **पान-प्रक्रिया** जब सम्पूर्ण हो गई, तब साधक महिष-वृत्ति को पाँव तले दाब, शिखा को पकड़ **'कण्ठ'**-प्रदेश में **शूल** का प्रहार करता है। **'हृदय'** में न कर **'कण्ठ'** में प्रहार करता है। इसमें यह रहस्य है कि **'हृदय'** **'धारणा'** या **'भावना'** का स्थान है। **'कण्ठ'** भाव-व्यक्ति का स्थान है। सर्व-प्रथम **जीव** का लक्ष्य यह है कि किसी प्रकार के **भाव** (यहाँ **आसुरी भाव**) न रहें। इसी हेतु **आसुरी भावों** के उद्गम-स्थान **मस्तिष्क** (सिर) को **'ज्ञान'**-रूप असि से काट डाला जाता है। फिर व्यक्ति-स्थान **'कण्ठ'** का **'ज्ञान'**-शूल से अवरोध किया जाता है।

कथानक के शब्दार्थ से हम जानते हैं कि **'महिषासुर'** मारा गया, पर यह रहस्यार्थ से सिद्ध नहीं होता। तात्पर्य कि यह **'महिष'** निष्प्राण नहीं हो सकता। यह अच्छी तरह वशीभूत कर लिया जाता है। यह गुण-त्रय के परिचय से सिद्ध है कि **'तामस'** आच्छादक शक्ति है, **'राजस्'** उत्तेजक या दीप्ति-कारक शक्ति है और **'सत्त्व'** प्रकाशिका शक्ति है। **तामस्** और **सत्त्व** इन दोनों गुणों को बढ़ानेवाला **'राजस्'** है। **'तामस्'** और **'सत्व'** बिना **'राजस्'** की सहायता से क्रिया-शील नहीं हो सकते। **'राग'** ही का दूसरा नित्य **सम्बन्ध-गुण** **'द्वेष'** है। हम इसी गुण से एक वस्तु को पसन्द करते हैं और दूसरे को नापसन्द। **'महिष'**-द्योतित **'राग'** का वाञ्छनीय रूप वह है, जो **'सत्त्व'**-गुण का सम्वर्धन करता है और अवाञ्छनीय वह है, जो **'तमो-गुण'** या **'अज्ञान'** को बढ़ाता है। **रजो गुण** सत्त्व-गुण में अन्तर्निहित रहता ही है। अन्यथा **सत्त्व-गुण** की वृद्धि सम्भव नहीं है।

अवशेष में इतना और कहना है कि **'महिषासुर'** का वध एक ही बार नहीं हुआ है। **'तन्त्र-शास्त्र'** की **'महा-काल-संहिता'** में इसका उल्लेख मिलता है कि **'महिष'** का तीन कल्प में तीन बार वध हुआ है। इसी से **'महिष-मर्दिनी भगवती दुर्गा'** के तीन प्रकार के प्रधान ध्यान हैं। यथा—

'रम्भ'-नाम के **कल्प** में **'रम्भासुर'** का लड़का **'महिषासुर'** था। इसका वध महा-घोर-स्वरूपा **अष्टादश-भुजी उग्रचण्डा**-संज्ञिका **दुर्गा** से हुआ। दूसरी बार **'नील-लोहित कल्प'** में यह **षोडश-भुजी दुर्गा** से मारा गया। इनकी संज्ञा है **'महा-माया भद्रकाली'**। तीसरी बार **'श्वेत-वाराह कल्प'** में यही **'महिषासुर'**— **'दश-भुजी ललिता**-संज्ञिका **कात्यायनी दुर्गा'** से मारा गया। इसी से **'शारदीय पूजा'** के तीन प्रकार के **कल्प हैं**—

(१) **प्रथम कल्प** है एक **'पक्ष'** या **पन्द्रह दिनों** का **आश्विन कृष्ण नवमी** से लेकर **आश्विन शुक्ल नवमी** तक। (२) **आश्विन शुक्ल प्रतिपदा** से **नवमी** तक **नौ दिनों** का और (३) तीन दिनों का **सप्तमी, अष्टमी** एवं **नवमी**। (मिथिलाञ्चल में **द्वितीय कल्प** और वङ्ग देश में **तृतीय कल्प** का प्रचलन है)।

कहा गया है कि **'महिषासुर'** **'रम्भासुर'** से उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार **'महिषासुर'** कोई

जीव नहीं है, आसुरी सर्गों का प्रधान **महा-मोह** है, उसी प्रकार **'रम्भासुर'** कोई जीव नहीं है। यह **'प्राणों'** या **'मन'** का कु-स्पन्दन-जनित **कु-रव** है। **'रम्भ'**- पद **'रभि शब्दे'** की धातु से उत्पन्न होता है। **स्पन्द** (स्पन्दन) नाम **गति** का है। **'प्राण'** और **'मन'** दोनों की **गतियाँ** हैं। इन **गतियों** में जब विषमता आती है, तभी **'कु-रव'** अर्थात् **'कुत्सित रव'** या **'नाद'** होने लगता है। इसी **'रम्भ'** या **'कु-रव'** का परिणाम है— **'विकार'** या **'मोह'**। इसी से **महिष** की उत्पत्ति है और **'महिषासुर'** का **'रम्भासुर'** से जन्म लेना एक ही बार लिखा है, दूसरी बार या तीसरी बार नहीं।

इस सम्बन्ध में एक और विषय भी उल्लेखनीय है। यद्यपि यह **'मार्कण्डेय पुराण'** में नहीं कहा गया है, तथापि **'तन्त्र-शास्त्र'** के एक प्रामाण्य ग्रन्थ **'महा-काल संहिता'** में कहा जाने से माननीय है। यह कोई साधारण उक्ति नहीं है। रहस्यार्थ के विचार से इसका महत्त्व ज्ञात होता है कि इसके बिना **'महिषासुर'** के वध का रहस्य-ज्ञान अपूर्ण रह जाता है। कथानक यह है कि **'महिषासुर'** ने **भगवती महा-माया** से तीन वरों की याचना की—

(१) **सौम्य-मूर्ति** से मेरा वध हो, (२) मेरे **प्राण-युक्त सिर** पर तुम्हारा **एक पैर** सर्वदा रहे और (३) तुम्हारे सभी **यज्ञों में मुझे भाग मिले।**

प्रथम प्रार्थना का रहस्यार्थ यह है कि **'सौम्य साधना'** के द्वारा मेरे सर्गाणु (बीज) का नाश हो क्योंकि आदि में जो इसका वध हुआ था, वह **'उग्र-चण्डा'** की उग्र साधना से। अब तो संसार के जीवों में यह बल नहीं कि उस प्रकार की घोर साधना करे।

फिर यह कैसी बात कि **मुझे मारो, पर मैं जीवित रहूँ!!** और **मैं जीव-द्वेषी होने पर भी यज्ञ में भाग पाऊँ!!** ऐसी आश्चर्य-जनक उक्ति **'महिष के वध'** के सम्बन्ध में न **'मार्कण्डेय पुराण'** में और न **'श्रीदेवी महा-भागवत'** में ही पाई जाती है। केवल यही उक्ति है कि इसका **सिर महा-असि से काट गिराया गया।** फिर **उसके सिर पर भगवती पैर कैसे रखे है?**

जैसा कि पूर्व कहा गया है, यह **'महिष'** न मर सकता है, न मारा ही जा सकता है। जब तक **गुण-मय जीव** है, तब तक यह **'रजो-गुण-स्वरूप महिष'** रहता ही है, पर **सिद्ध साधक** के पाँव तले (वश में) और **असिद्ध साधक** में **'इन्द्र'** या **'हृदयेश्वर'** होकर। अब रही **'यज्ञ'** का भाग लेने की बात। यह भी इससे स्पष्ट है कि **'यज्ञ'** अर्थात् **'प्राण'-साधन** या **आत्म-साधन** आदि. क्रियाओं में इसकी अर्थात् **सम्वर्धन-शक्ति** की आवश्यकता रहती ही है। यही है **'महिष'** का **यज्ञ-भाग** का लेना।

'महिषासुर-वध-लीला' का यह एक प्रकार का रहस्य है। इसी की शिक्षा **सुरथ** को दी गई एवं सभी **मनीषी साधक** पाते हैं। यह पढ़ने मात्र की वस्तु नहीं है। इसके अनुसार साधन भी करना उचित है— **'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'** पढ़ना है— **'श्रवण'** वाच्यार्थ एवं रहस्यार्थ समझना है— **'मनन'** और फिर इष्ट-साधनार्थ प्रयत्न करना है— **'निदिध्यास'।**

शुम्भ-निशुम्भ-बध-रहस्य

मेधा ऋषि सुरथ-समाधि को जो **'ज्ञान-योग'**, **'क्रिया-योग'** और इन दोनों योगों के मिश्र रूप **'भक्ति-योग'** की उच्चतम शिक्षा देते हैं, उसका उद्धरण करते हुए **महर्षि मार्कण्डेय** अपने शिष्य **क्रोष्ट मुनि** से कहते हैं—

''पूर्व समय **'शुम्भ-निशुम्भ'** नाम के असुरों ने शची-पति **'इन्द्र'** का **'यज्ञ'**-भाग और त्रैलोक्य का राजत्व छीन लिया। फिर इन दोनों ने **सूर्य, इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण, वह्नि** आदि सभी देवताओं को अपने अधीन कर लिया, जो अपदस्थ हो स्वर्ग से निकल आए। दुर्दशा-ग्रस्त होने पर इन्हें **भगवती अपराजिता महा-माया** के द्वारा पूर्व-प्रदत्त **'वर'** का स्मरण हुआ।''

महर्षि मार्कण्डेय की उक्त उक्ति से यह ज्ञात होता है कि **'पुरा'** अर्थात् जीव के सत्त्व-गुणापन्न होने के पूर्व साधन-अवस्था में, सत्त्व-गुणाश्रित **'शुम्भ'** अर्थात् **'अहङ्कार'** अपने अनुज **'निशुम्भ'** अर्थात् **'ममता'** आदि आसुरी सर्गों से ग्रसित था। कृतोपासक साधक में **'इन्द्र'** के वदले **'शची'-पति** रहता है। **इन्द्र, शक्र, शची-पति** आदि एक ही व्यक्ति की संज्ञाएँ हैं। भिन्न-भिन्न गुणों के आधार पर इनके भिन्न-भिन्न नाम होते हैं।

'शची-पति' का अर्थ है— **'वाक'**। **'शचति इति शचिः'** का पति या शक्ति। यही **'शचीपति'** **'सप्तशती'** के **'तृतीय चरित'** का नायक है। **'प्रथम चरित'** का नायक **'नभ्य पुरुष ब्रह्मा'** अर्थात् **'पश्यन्ती वाक्-पुरुष'** है और **'द्वितीय चरित'** का नायक— **'इन्द्र'** या **'मध्यमा-वाक् पुरुष'** है। **'तृतीय चरित'** का नायक **'शची-पति'— वैखरी वाक्-शक्ति पुरुष** है। इससे यह वोध होता है कि **'प्रथम चरित'** में **'मन का साधन'**, दूसरे में **'प्राण-साधन'** और तीसरे में **'वाक्-साधन'** की शिक्षा है।

हम जीवों की **'शची-शक्ति'** या **'वाक्-शक्ति'** जब **'राज-योग'-साधन** के द्वारा ज्योतिर्मय होती है, तभी हम **'सत्त्व-गुणी'** होते हैं, अन्यथा नहीं।

जिस प्रकार **'सप्तशती'** के **'प्रथम चरित'** में **'भक्ति-योग'** की प्रधानता कही गयी है और द्वितीय में **'क्रिया-योग'** की, उसी प्रकार **'तीसरे चरित'** में, जिसको **उत्तम** या सर्व-श्रेष्ठ कहते हैं, **'ज्ञान-योग'** की प्रधानता कही गई है। उक्त तीनों योग अविना-भाव-सम्बन्ध में ग्रथित और अन्यान्याश्रित हैं, इन तीनों की पृथकृता नहीं हो सकती। जिस प्रकार **'भक्ति-योग-क्रम'** में **'क्रिया'** और **'ज्ञान'** सन्निहित हैं और **'क्रिया-योग-क्रम'** में **'भक्ति-योग'** तथा **'ज्ञान-योग'**, उसी प्रकार **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **'भक्ति'** और **'क्रिया'** सन्निहित हैं।

अव यह देखना है कि **'सप्तशती' के तीसरे चरित के नायक** **'शची-पति'** को अपदस्थ

करनेवाले **'शुम्भ'**, उसके अनुज **'निशुम्भ'** और इनके सहकारी **'रक्त-बीज'**, **'धूम्र-लोचन'**, **'चण्ड-मुण्ड'** और **'सुग्रीव'** यथार्थतः कौन हैं? क्या ये जैसा कथा-वाचक-गण कहते हैं और जैसा चित्रों में दिखाया जाता है, बड़े विकट रूपवाले मनुष्य-भक्षी जीव हैं? नहीं, ये जीव नहीं हैं। ये हैं हम मनुष्यों में ही रहनेवाली राक्षस-वृत्तियाँ।

रूपक के भाव में **'शुम्भ'**, **'निशुम्भ'** आदि को **'राक्षस'** कहा गया है क्योंकि इन आसुरी वृत्तियों से हमें अपनी रक्षा करनी चाहिए। फिर इनको **'दिति'** के वंशज **'दैत्य'** भी कहते हैं क्योंकि ये हमारी अद्वैत भावना को खण्डित करनेवाले हैं। इनको **'असुर'** भी कहते हैं, कारण ये हमारे ज्ञान के विरोधी हैं। **'सुरत्व'** के रहितत्व को **'असुर'** कहते हैं। **'सुर'— 'पुर प्रकाशे + कः = सुरः'** का अर्थ है **'प्रकाशक'**। अतः **'असुर'** **'प्रकाश-विरोधी रहितो वा असुरः'** ज्ञान-विरोधी, या ज्ञान-रहित, या तम है। **'शुम्भ-निशुम्भ'** आदि उच्च कोटि के आसुरी सर्ग-गण हैं क्योंकि ये भूतात्मा के नहीं, तैजसात्मा के विकार-रूप हैं।

'आसुरी भाव' केवल तमो-गुणाश्रित या रजो-गुणाश्रित ही नहीं होता। यह सत्त्व-गुण में भी सन्निहित रहता है। तीनों अवस्थाओं (१ सत्व, २ रज, ३ तम) में **आसुरी सर्गों के भिन्न-भिन्न रूप** हैं। इसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि **'अहङ्कार'** जिसको **आसुरी सर्गों का राजा या प्रधान** माना जाता है, तीन प्रकार का होता है। **'प्रथम अहङ्कार भाव'— 'तमोगुण'**-प्रधान है। यह हमको इस भ्रान्ति में डालता है कि हम शरीरी-मात्र हैं। इस भाव में **'आत्मा'** का स्थान नहीं है। अगर है भी तो यत्-किञ्चित गौण रूप का। **'द्वितीय अहङ्कार राजस्' भावापन्न** है। यह हमको संकीर्ण-रूप के **'आत्म-ज्ञान'** का परिचय देता है। दूसरे शब्दों में, इसके कारण हम अपने को 'शरीर'-रूप नहीं 'आत्म'-रूप तो समझते हैं, पर **'समष्टि आत्मा'** से पृथक समझते हैं। **तृतीय अहङ्कार परम अहं-कृति** है, जिससे हम अपने को **सर्व-मय** या **'ब्रह्म-मय'** समझते हैं। इसमें **'आत्म'-रूप** का असीम क्षेत्र है। अस्तु, **'शुम्भ'**, **'निशुम्भ'** आदि आसुरी सर्गों का विस्तृत परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। यथा—

(१) **शुम्भ— 'शुम्भ हिंसायां भावे घञ्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार **'शुम्भ'**-पद का अर्थ है— **आत्म-घाती भाव।** **'श्रुति'** की उक्ति है कि द्वैत-भाव-सम्पन्न जो अहं-कृति है, वही आत्मघ्न है — **'आत्मघ्न द्वैत-भाव-सम्पन्न अहङ्कारः।'** फिर यदि इसी **'शुम्भ'**-पद की व्युत्पत्ति **'शुनभ्'** धातु से लें, तो इसका अर्थ **'आत्म-दीप्त-कारक'** है। तात्पर्य कि यह वह सात्विका अहंकृति है, जिससे आत्म-दीप्ति होती है। दूसरे शब्दों में इस **'अहं-कृति'** को **'राज-यौगिक अहं-कृति'** कह सकते हैं। यह **'लय-योग'** की सिद्धि होने पर दूर हो जाता है और तभी **'असम्वेदन-अवस्था'** या **'निर्विकल्प-समाधि'** की प्राप्ति होती है।

(२) **निशुम्भ—** यह **'शुम्भ'** का अनुज सहोदर कहा जाता है। ठीक ही है क्योंकि एक ही 'अस्मत्' पद से बने **'अहं'** एवं **'मम'** पद-द्वय हैं। शव्द-व्युत्पत्ति के अनुसार **'अहं'** का अनुज **'मम'** पद तो है ही, भाव के अनुसार भी अनुजत्त्व सिद्ध है, कारण जहाँ अस्मिता-भाव है, वहाँ ममता भी है। यह सम्वन्ध अविना-भाव-सम्वन्ध है, ऐसा स्वतः सिद्ध है।

(३) **रक्त-बीज— 'रक्तमनुरागः, बीजं कारणम्। रज्यते अनने इति रागः कामः।'** यह **'काम'** का द्योतक पद है। **'काम'** या मनोरथ अपार अथवा अनन्त है क्योंकि इसकी समाप्ति नहीं है— **'मनोरथाणां न समाप्तिरस्ति'।** **'काम'** सफल हो या असफल, इसका अन्त नहीं होता। **असफल या अपूर्ण काम** का तो अन्त है ही नहीं। **सफल या पूर्ण काम** का भी अन्त नहीं है। एक प्रकार का **'काम'** पूर्ण होता है कि बस दूसरा तुरन्त उसी स्थान पर उग उठता है। यथा लक्ष की कामना पूर्ण हुई कि दश-लक्ष की, फिर उसकी भी पूर्त्ति पर कोटि की कामना आती है। फिर अपूर्ति की दशा में वह नहीं मिला, तो यह मिले, ऐसा भाव बना ही रहता है। परन्तु कब तक? जब तक इसका आधार अर्थात् जिससे यह उत्पन्न होता है, उसका नाश नहीं होता। यह हैं **'सङ्ग'।** **'सङ्गात् सञ्जायते कामः।'** यही **'रक्त-बीज'** के वध का कथानक है। दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि **'रक्त-बीज'** या **'काम-बीज'— 'सविकल्पक मन'** है, जिसकी पर्यायवाचक संज्ञा— **'सम्वित्'** है।

(४) **धूम्र-लोचन—** यह लक्षणाधार संज्ञा है। यहाँ धुएँ के रङ्ग की आँख की लक्षणा का ग्रहण नहीं है। **'धूम्र'** का अर्थ है— **'आवरण-कारक पदार्थ'** और **'लोचन'** का अर्थ है— **'ज्ञान या मानसिक दृष्टि'।** अतः जिससे **'ज्ञान'** का आवरण हो अर्थात् **'ज्ञान'** ढँक जाए, वही **'धूम्र-लोचन'** है। यह है **'आलस्य',** जिसके अनेकानेक उपसर्ग हैं। यथा **संशय, प्रमाद** इत्यादि। इसकी दार्शनिक या वैदान्तिक पर्यायवाचक संज्ञा— **'लय'** है। **'लयावस्था'** विमुग्धावस्था है, जिसको स्तब्धावस्था भी कहते हैं। यह **विघ्न-चतुष्टय** (१ लय, २ विक्षेप, ३ कषाय एवं ४रसास्वाद) का प्रथम विघ्न है। संक्षेप में, यह **चित्त-वृत्ति की निद्रावस्था** है, जो अखण्ड या अद्वैत-भाव से रहित होती है।

(५+६) **चण्ड + मुण्ड—** इसका अर्थ है **'क्रोधी'।** सब वस्तुओं, सब भावों के दो रूप हैं— एक उपादेय या वाञ्छनीय और दूसरा हेय या अवाञ्छनीय। यथा **'अहन्ता'**-भाव का उत्कृष्ट रूप है — **'परा-हन्ता',** जिसमें **'इदन्ता'**-भाव सन्निहित नहीं है। **'मन'** का उपादेय रूप है **'पर-मन',** जिसमें **'सङ्कल्प-विकल्प'** नहीं रहता है। **'राग'** का उत्कृष्ट रूप है— **'अनुराग'** या **'भक्ति',** जिसमें परम पद की प्राप्ति होती है। इसी तरह **'कोप'** का भी उत्कृष्ट रूप वह है, जो तनिक-सा भी प्राण की मलिनता को सहन नहीं कर सकता। इसी से भगवती दुर्गा की एक संज्ञा है— **'चण्डी'** (**'चण्ड'** का स्त्री-लिंगान्त-पद)। **'चण्ड'**— कोप का वह निकृष्ट रूप है, जो हममें उग्रता उत्पन्न कर मन को चञ्चल अर्थात् विवेक-हीन कर देता है। इससे **'दर्प'** की उत्पत्ति होती है, जिसका द्योतक **'मुण्ड'** है। **'मुडि खण्डने मुण्ड'** का अर्थ है— **धर्म-सीमा का खण्डन या उत्क्रमण करनेवाला।** **'शाङ्कर गीता-भाष्य'** में भी **'दर्प'** की यही परिभाषा है— **'दर्पो नाम हर्षान्तर भावी धर्माति-क्रम-हेतुः। हृष्टो दृष्यति दृप्तो धर्म-मति-क्रामति।।'**

'मुण्ड'-सर्ग **'चण्ड'**-सर्ग से उसी प्रकार सम्बन्द्ध है, जिस प्रकार **'मधु-सर्ग'** से **'कैटभ-सर्ग'।**

(७) **सुग्रीव—** यह **'रामायण'** का **'सुग्रीव'** नहीं है। इसका यह तात्पर्य है कि जिस भाव का रूपक **'रामायण'** में लिया गया है, उस भाव का द्योतक यह **'सुग्रीव'**-पद यहाँ नहीं है।

'सुग्रीव' से मधुर वचन बोलनेवाले का बोध है। दूत का यह प्रधान गुण है। दूत की मुख्य उपयोगिता परिग्रह में भी है। दूत केवल सम्वाद-वाहक ही नहीं है। यह कार्य-साधन की प्रथम भूमिका अपनी वाक्-चतुरता से तैयार करता है। वाक्-चतुरता से उत्कृष्ट साधन की भी भूमिका तैयार होती है और निकृष्ट की भी। यहाँ निकृष्ट की ही तैयारी की बात है, जिसका तात्पर्य यह है कि साधक की अन्तिम या उत्तम साधना में विघ्न डालनेवाला **'सुग्रीव'** है। **'सुग्रीव'** या **'परिग्रह-भाव'** को दूर भगाने के लिए हम लोग **'विघ्नोत्सारण'** करते हैं, जिसको करके **'पूजा'** अर्थात् **'साधना'** आरम्भ होती है, क्योंकि **'ब्रह्म-विद्या'** का साधक 'विषय-परिग्रह' का त्याग किए बिना **'साधना'** में सफल नहीं हो सकता है।

अस्तु, जिस प्रकार **'मध्यम चरित'** में **'देवासुर-संग्राम'** की अवधि का उल्लेख है, उस प्रकार **शुम्भ-निशुम्भ द्वारा संग्राम** की अवधि का उल्लेख **'उत्तम चरित'** में नहीं है। क्यों? यस्मात् **शुम्भ-निशुम्भ** विना युद्ध किए ही **महिष** के नियन्त्रण होने पर स्वतः उस स्थान पर अधिष्ठित होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि साधक में जब **राजस भाव** नियन्त्रित हो जाता है, तो **सात्विक भाव** स्वतः आ जाता है। अब पुनः प्रश्न उठता है कि **सत्व-गुणावस्था में आसुरी भाव** है या नहीं? एक सिद्धान्त के अनुसार कहा जाता है कि **सत्व-गुणावस्था** निर्दुष्ट है अर्थात् इसमें कोई दोष अर्थात् **आसुरी भाव** नहीं है, पर सूक्ष्म विचार से यह सिद्ध नहीं है। कारण जीवन के परम या अन्तिम लक्ष्य की सिद्धि जब तक नहीं होती, तब तक 'दोष' सत्व-गुण से भी बद्ध रहता है। इसी से **जगद्-गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र** का उपदेश है— **'त्रैगुण्य-विषया वेदा। निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'** — 'गीता'।

अर्थात् वेद या ज्ञान त्रिगुणाश्रित हैं। इस हेतु गुणातीतावस्था में जाओ अर्थात् असम्वेदनावस्था में जाओ, जहाँ किसी प्रकार का **ज्ञान (सम्वित)** नहीं रहता। यह उपदेश **अर्जुन— 'अर्ज + उनन् उणादिं'** अर्थात् **विदेह-मोक्षाकांक्षी** के लिए है।

'असम्वेदन'-पद योगवासिष्ठी है। यही योग-दर्शनोक्त **असंप्रज्ञात वा निर्विकल्प समाधि** है। **'योग-वासिष्ठ'** निस्त्रैगुण्य के सम्बन्ध में कहता है— **'त्रिविधं तु परित्यज्य रूपमेतन्महामते।'**

अब देखना है कि उक्त त्रिविध के परित्याग का निर्देश इस हेतु है कि सर्व-श्रेष्ठ सत्व-गुण दैवी सर्गात्मक या दैव भावापन्न होते हुए भी सङ्कल्पात्मक ही है— **'सत्व-रूपो हि सङ्कल्पो धर्म-ज्ञान-परायणः।'**

इस दृष्टि से सत्व-गुणापन्न योगी-गण भी प्रबुद्ध नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि ये भी विपश्चित धारणावाले नहीं हैं। प्रसङ्ग-रूपान्तर से या आलङ्कारिक भाषा में ये प्रबुद्ध कहे जाते हैं, यथार्थतः नहीं। ऐसा **'योग-वासिष्ठ'** भी कहता है।

* * *

परा-शक्ति चण्डिका का साधन

'श्रीदुर्गा-सप्तशती' के **'मध्यम चरित'** में **'देवासुर-संग्राम'** की अवधि का स्पष्ट उल्लेख है। **'तृतीय चरित'** में संग्राम की अवधि का उल्लेख नहीं है। प्रश्न उठता है— ऐसा क्यों? सम्भवतः ऐसा इसलिए क्योंकि **शुम्भ-निशुम्भ** बिना युद्ध किए ही **महिष** के नियन्त्रण होने पर स्वतः उस स्थान पर अधिष्ठित होते हैं। तात्पर्य कि **साधक** में जब **राजस भाव** नियन्त्रित हो जाता है, तो **सात्त्विक भाव** स्वतः आ जाता है। पुनः प्रश्न उठता है कि **'सत्त्व'**-गुणावस्था में **'आसुरी भाव'** है या नहीं? एक सिद्धान्त के अनुसार कहा जाता है कि **'सत्त्व'**-गुणावस्था निर्दुष्ट है अर्थात् इसमें कोई दोष अर्थात् **'आसुरी भाव'** नहीं है, पर सूक्ष्म विचार से यह सिद्ध नहीं है क्योंकि **जीव** को **परम** या **अन्तिम लक्ष्य की सिद्धि** जब तक नहीं है, तब तक वह **'सत्त्व'**-गुण से भी बद्ध रहता है। इसी से जगद्-गुरु **भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र** का उपदेश है— **'त्रैगुण्य-विषया वेदा, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!'** (गीता)।

अर्थात् **वेद** या **ज्ञान** त्रिगुणाश्रित हैं। इस हेतु **गुणातीतावस्था** में जाओ अर्थात् **असंवेदनावस्था** में जाओ, जब किसी प्रकार का **ज्ञान** (सम्वित्) नहीं रहता। यह उपदेश **अर्जुन** — **'अर्ज + उनन् उणदि'** अर्थात् **विदेह-मोक्षाकांक्षी** के लिए है।

'असंवेदन'-पद **'योग-वासिष्ठी'** है। यही है **'योग'**- दर्शनोक्त **'असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधि'**। **'योग-वासिष्ठ'** निस्त्रैगुण्य के सम्बन्ध में कहता है— **'त्रिविधं तु परित्यज्य रूपमेतन्महा-मते!'**

अब देखना यह है कि उक्त **त्रिविध** के परित्याग का निर्देश इस हेतु है कि सर्व-श्रेष्ठ **सत्त्व-गुण** दैवी सर्गात्मक या दैव-भावापन्न है, फिर भी यह सङ्कल्पात्मक ही है—**'सत्त्व-रूपो हि सङ्कल्पो, धर्म-ज्ञान-परायणः।'** दूसरे शब्दों में, **सत्त्व-गुणापन्न योगी-गण** भी प्रबुद्ध नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि ये भी विपश्चित धारणा-वाले नहीं हैं। प्रसङ्ग-रूपान्तर से या आलङ्कारिक भाषा में ये **प्रबुद्ध** कहे जाते हैं, यथार्थतः नहीं। ऐसा **'योग-वासिष्ठ'** भी कहता है—

प्रबुद्धाः कथिता ये ते, योगिनस्ते मयानघ! प्रसङ्ग - रूपान्तरतो, न प्रबुद्धा विपश्चितः॥

इस प्रकार सिद्ध है कि चूँकि **'सत्त्व'**-रूप **धर्म-परायण** होने पर भी **सङ्कल्पात्मक** होने के कारण **बन्धन का कारण** है। अतएव प्रकृत **'योग'**-पद **'असंवेदन योग'** है, क्योंकि यही **'अकृत्रिम योग'** है — **'अवेदन-विदुर्योगं, चित्त-क्षयमकृत्रिमम्'** (योग-वासिष्ठ)। इसमें **विपश्चित-धारणा** है ही नहीं। इस प्रकार सिद्ध है कि **'सत्त्व'**-गुणात्मक **आसुरी सर्गों** से युद्ध नहीं होता। यह 'सत्त्व'-गुणात्मक आसुरी सर्ग भी उत्कृष्ट रूप का ही सही, पर है— **'विकार'**, जिसके साथ **साधक** को **'समर'** करना पड़ता है। इसकी **'कथा'** या वर्णन आगे है।

इसके निमित्त क्या करना है, यह कहा जाता है—

सर्व-प्रथम साधक को **'साध्य'** और **'साधन'** में दृढ़ या अटल विश्वास रखना है। दृढ़ विश्वास के न रहने से **'साधन में प्रवृत्ति'** ही नहीं रह सकती। **'कर्म'** का आधार **'विश्वास'** है। **कर्म** करने से ही **'फल'** की प्राप्ति है। इसी से कहा जाता है— **'विश्वासः फल-दायकः।'** **'विश्वास'** और **'फल'**— ये दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं और इन दोनों में पूर्व कौन और पश्चात् कौन, इसका भी निर्णय कठिन है क्योंकि **विश्वास से फल** और **फल से विश्वास**— ये दोनों बातें हैं। आदि में **ब्रह्मा**-जैसा विश्वास था कारण **फल** का, पर अब **फल** से **विश्वास** है। **इन्द्रादि** देव-गण को **'महिषासुर के वध-रूपी फल'** के मिलने से **'महा-माया की आराधना'** में विश्वास होता है। इसी से **'देव-गण कृत जगदम्बा-स्तुति'** है, जिसको **'स्मार्त देवी-सूक्त'** कहते हैं।

यहाँ इतना उल्लेखनीय है कि **भगवती महा-माया,** जिसका यथा-साध्य परिचय दे दिया गया है, **साध्य** एवं **साधन**— दोनों हैं। **भगवती,** जो **साध्य** है, वह असंख्य रूपों में है, एक ही रूप में नहीं। तात्पर्य कि **साधक** अपने **साध्य के रूप** की कल्पना से निर्णय करता है। उसका जिस **रूप** में अनुराग होता है, उसी **रूप** में भजता है और वही **भगवती-साधन** भी है। इससे ऐसा तात्पर्य है कि उसी **एक साधन** के द्वारा **अन्य-अन्य साधनों की प्राप्ति** होती है। सर्व-प्रथम वही ऐसी **साधन-बुद्धि** की देनेवाली है। फिर उस **'साधन-बुद्धि'** की बढ़ानेवाली **'साधन-गुरु'** भी वही है, जो **'वहाँ'** तक ले जानेवाला है। और वही वह है, जो **'साधनानुकूल परिस्थिति'** बनाती है।

है तो वही **'एक'** सब कुछ। यहाँ तक कि **साध्य, साधन** होने के अतिरिक्त **साधक** भी वही है। पर यह **बुद्धि** कि **साधक** भी वही है, **साधन** के पूर्ण होने पर ही आती है। **'साध्य-साधन-साधक'**—यह त्रिपुटी-भाव भी जब नष्ट या लय होता है, तो फिर क्या रह जाता है, यह कोई नहीं कह सकता। इसी से शास्त्र भी इस अवस्था को **'अनाख्यावस्था'** कहते हैं। इस कारण **अन्तिम अवस्था** का ध्यान न रखकर **साधन** करना होता है। यह भी **साध्य** की यत्-किञ्चित् धारणा रखकर क्योंकि **साध्य** की पूरी धारणा असम्भव है। अपने को **'वही'** स्वयं जानती है। दूसरा जाननेवाला है ही नहीं। **'गीता'** और **'तन्त्र'**— दोनों ऐसा ही कहते हैं। **'गीतोक्ति'** है— **'स्वयमेवात्मनात्मानं, वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम!'**

'तन्त्रोक्ति' है— **'सैव स्वं वेत्ति परमा, तस्या नान्योऽस्ति वेदिता।'**

इस अवस्था में हम सभी **'अन्ध-हस्ति-न्याय'** अनुमान करके जानते हैं। जिस **रूप** का **आंशिक ज्ञान** है, वह **उप-हित चेतना-मयी** का है, न कि **अनुपहित चेतना** का। तात्पर्य कि त्रिगुणात्मिका उपहित चेतना-मयी **महा-माया** के **अपर रूप** का ज्ञान है, **पर रूप** अनुप-हित **चेतना** का तो, जो **गुण-त्रय** से अनुप-हित वा **परे** है, ज्ञान होना असम्भव है। इसी से **'त्रिगुण-मयी सत्ता की उपासना'** का निर्देश है। **गुणातीत रूपातीत** जो इसका रूप है, उसकी

उपासना नहीं हो सकती।

'उपासना' भी दो प्रकार की है— एक **'सालम्ब'** और दूसरी **'निरालम्ब'**। **'सालम्ब'** में **'भक्ति-योग'** प्रधान है और **'निरालम्ब'** में **'ज्ञान-योग'** अथवा **'क्रिया-योग'**। **'भक्ति-योग'** में **इष्ट-रूप** का आश्रय लेकर चलना है; **'ज्ञान-योग'** में **'मैं स्वयं ब्रह्म-रूप हूँ'— 'अहं ब्रह्मास्मि'** इस सिद्धान्त पर चलना है और **'क्रिया-योग'** में **निदिध्यास** या **साधन** द्वारा अपने प्राण को और अपने मन को संवर्धित कर **'पर-प्राण'** अर्थात् **परमात्मा** में मिलना है। **ज्ञान** और **क्रिया**—ये दोनों अपने शुद्ध रूपों में **निरालम्ब** कहे गए हैं। इन दोनों में सँभालनेवाला दूसरा नहीं है अर्थात् गिरने से बचानेवाला नहीं है। **'भक्ति-योग'** में यह बात नहीं है। इसमें बचाने-वाला है। इसी से यह **सर्व-श्रेष्ठ योग** है— **'भक्ति-योगः सर्वेभ्यो गरीयान्'** (पारानन्द-सूत्र)। **'गीता'** (६।४७) भी ऐसा ही कहती है—

योगिनामपि सर्वेषां, मद्-गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां, स मे युक्त-तमो मतः।।

अब यह विवेच्य है कि इस **उप-हित चेतना-शक्ति** के किस रूप का **साधन** कर्तव्य है? हम सभी रूपों का कर नहीं सकते। सुतरां किसी **एक रूप** को ही लेना है। **रूप** का निर्णय श्रेष्ठता पर नहीं है क्योंकि **कोई रूप** किसी **दूसरे रूप** से **श्रेष्ठ** या **न्यून** नहीं हो सकता। इस हेतु **साधक** अपनी योग्यता और सुविधा के अनुसार **रूप** का चुनाव करता है। इसी चुनाव को **'भक्ति'-योग-दर्शन'** में **'सम्बन्ध-स्थापन'** कहा गया है।

इन सम्बन्धों को मुख्यतया दो भागों में बाँट सकते हैं— एक **स्त्री-लिङ्गात्मक** और दूसरा **पुंल्लिङ्गात्मक** अर्थात् **शक्ति** या **शक्ति-मान्**— इन दोनों रूपों में। ये दोनों भाव यथार्थतः भिन्न नहीं हैं। इसी से **'श्रुति'** कहती है— **'शक्ति-शक्ति-मतोरभेदः।'**

'शक्ति-उपासना', जिसके **माहात्म्य** और **शिक्षण** का विषय **'सप्तशती'** में है, तीन प्रकार की है—(१) **'ग्रहीत्रालम्बना'** अर्थात् माता के गर्भ में भ्रूण-जैसा रहना (जैसी **महर्षि वामदेव** ने की)। (२) **'ग्रहणालम्बना'** अर्थात् माता की गोद में रहकर करना (जैसी **समाधि वैश्य** ने की) और (३) **'ग्राह्यालम्बना'** अर्थात् सर्वतोभाव से आश्रित होकर रहना (जैसी **सुरथ राजा** ने की)।

'शक्ति-उपासना' के ही अन्तर्गत **'दुहितृ-उपासना'** है। **दुहिता** (पुत्री) मानकर जो उपासना होती है, उसको **'कुमारी-पूजा'** या **'बाला-उपासना'** कहते हैं। वह **वात्सल्य-रस-प्रधान** है। यह **'वैष्णव'-मार्ग** की **'बाल-गोपाल की उपासना'** के समान है।

सुरथ और **समाधि** की **उपासना-द्वय** किस क्रम की थी, इसका पता **देव-गण की स्तुति** से मिलता है। इस **स्तुति** में जिन भावों की व्यक्ति है, वह पूर्व-कृत **उपासना** के आधार पर ही है। इन भावों की आलोचना पश्चात् करेंगे, जिससे यह **'देवी-सूक्त'** कहलाती है। इसके पूर्व इस **स्तुति** का **अधिष्ठान** कैसा है; यह द्रष्टव्य है। उक्ति है— **'हिमवन्त नगेश्वर'** पर जाकर अर्थात् अवस्थित हो स्तुति की गई। **'नगेश्वर हिमवन्त'** का वाच्यार्थ है— **पर्वत-राज हिमालय,**

पर यह अर्थ यहाँ ग्राह्य नहीं है। **'नग'** नाम न चलनेवाले या **अचर** का है— **'न गच्छति इति नगः।'**

यह **'हिमवान्'** का विशेषण-पद है। इसका रहस्यार्थ है— **'महा अटल'** और **'हिमवान्'** का एक अर्थ, जो यहाँ ग्राह्य है, वह है **पूर्ण शीतल— 'हिम-वत् शीतलः।'** उक्त **गुण-द्वय-शील** मानसिक अवस्था है, जिसमें **स्तुति** की गई अथवा की जाती है। इसको **'संयतावस्था'** कहते हैं। इसी अवस्था के **जप, स्तवन** आदि कर्म फल-दायक हैं।

स्तुति है— **'हे देवि!** अर्थात् **अपर-चेतने, हे महा-देवि** अर्थात् **पर-चेतने, कल्याण-कारिणि,** तुमको सतत नमस्कार! **हे प्रकृति** अर्थात् **प्रकृष्ट रूप से काम करनेवाली! हे भद्रे** अर्थात् **योग-क्षेमङ्करि,** तुमको नियत-भाव से प्रणाम करता हूँ। **रुद्र-शक्ति** को, **नित्या सत्ता** को, **गौरी सत्ता** को, **धात्री सत्ता** को, **चन्द्रिका** एवं **चन्द्र-शक्ति** को और **सुख-दात्री शक्ति** को सतत नमस्कार। निरोग करनेवाली को, प्रणत जनों की उन्नति करनेवाली को, सिद्धि देनेवाली को पुनः-पुनः नमस्कार। **निऋति** अर्थात् **घृणा-रहिता—'निर्गता ऋतिर्घृणा यस्याः सा'** को, **पृथ्वी** की **आधार-शक्ति** को, **लक्ष्मी** अर्थात् **ज्ञान देनेवाली** को, **शर्वाणी** को अर्थात् **लीन** वा **लय करनेवाली** को पुनः पुनः नमस्कार। **दुर्गा** को अर्थात् **पिण्डाण्ड** और **ब्रह्माण्ड-रूपी दुर्ग** (किले) में रहनेवाली को, **दुर्ग-पारायै** अर्थात् **भव-रूपी दुर्ग** या **कठिन कारागार** से निकालनेवाली को, **मूला** अर्थात् **सभी कारणों के कारण** को, सभी **सम्भव** और **असम्भव** घटना घटानेवाली को, प्रसिद्ध **कीर्तिवाली** को, **कृष्णा** अर्थात् **अचिन्त्या** को, **धूम्रा** को अर्थात् **धूमिल ज्ञान** वा **अपरिपूर्ण ज्ञान** में आनेवाली को सतत नमस्कार। अति **सौम्या** सत्ता एवं अति **घोर** सत्ता को बारम्बार प्रणाम। जगत् की **प्रतिष्ठा** जिससे है एवं उस **देवी शक्ति** को, जो **कार्य-कारिणी सत्ता** है, पुनः पुनः नमस्कार। उस **देवी** को, जो सब भूतों में व्यापक होने से **विष्णु - माया** कही जाती है, पाँच बार नमस्कार। उस **देवी** को, जो सभी जीवों में **चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, शक्ति, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, धृति, स्मृति, दया, तुष्टि, पुष्टि, मातृ** और **भ्रान्ति-रूप** में रहती है, पञ्च-नमस्कृति। अखिल जीवों की **इन्द्रियों की अधिष्ठात्री देवी** को, जिससे समस्त भूत-गण सर्वदा व्याप्त रहते हैं, बारम्बार नमस्कार। जिस **चेतना-शक्ति** से निखिल विश्व व्याप्त हो अवस्थित है, उसको पुनः पुनः नमस्कार। समय-समय जो **सुर** अर्थात् **चेतना-शील इन्द्रिय-गण** तथा **सुरेन्द्र** अर्थात् **इन्द्रिय-गण के स्वामी मन** से अभीष्ट के संश्रय के कारण **स्तुता** वा **पूजिता** होती रहती है, वह हमारी आपत्ति को दूर कर कल्याण करे। हम उद्धत खण्ड-कारक **द्वैत-भावात्मक अनात्माकार वृत्तियों** से तापित हो रहे हैं। इस हेतु जिसमें हम प्रणत हैं, वह तत्क्षण स्व-गुणानुसार हमारी विपत्ति को दूर करे।'

यह **स्तुति** बड़े महत्त्व की है। ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं कि **एतादृश स्तुति** दूसरी नहीं है। जिस प्रकार **'गायत्री'** में **'व्याहृति'**-नियोग की एक अपूर्व विशिष्टता है, उसी प्रकार इस **स्तुति** में **'प्रणमनों'** की विशिष्टता है, जिसका आंशिक अस्तित्व आगे चलकर **एकादश अध्याय** की **'नारायणी स्तुति'** में है। यह **'प्रणमन'**-प्रक्रिया गुरु-मुख से ही सीखी जा सकती है। तथापि

इतना कह सकते हैं कि यह उच्च यौगिक एवं मनो-यौगिक प्रक्रियां है। यही वास्तविक **शरणागति की मुद्रा** है, जिसमें **'प्राण'** और **'मन'** की संयति पूर्ण रूप से होनी चाहिए। इस **मुद्रा** के पर्याप्त अभ्यास से **'अहं-कृति'** दूर हो जाती है। इसमें भी **मात्रा** अर्थात् **कक्षा** है। **उच्च कक्षा** का **'प्रणमन'** जैसा **अर्जुन** ने विराट् रूप के दर्शन करने पर किया था, वास्तविक **'प्रणमन'** है। इसी प्रकार का **'प्रणमन' 'सम्वेश'**-रूप है, जिसकी चर्चा **पूज्यपाद शङ्कर** ने की है। यह हुआ दिव्य-भाव का **'प्रणमन'**, जिसमें बाह्य मुद्रा की आवश्यकता नहीं है। इस स्तुति के **'प्रणमन'** मध्यम वा वीर-भाव के हैं, जिसमें **बाह्य-मुद्रा** या **बाह्य प्रक्रिया** भी संयुक्त है। **निकृष्ट** या **पशु-भाव** के **'प्रणमन'** केवल **बाह्य-मुद्रा** एवं **वाचनिक** हैं। तात्पर्य कि जिसमें **प्राण-क्रिया** और **मानसिक क्रिया** का यत्-किञ्चित् समावेश रहता है।

अब इस **प्रणमन-प्रक्रिया** की निर्धारित संख्या पर विचार करना है। स्तुति में सर्व-प्रथम **तीन बार** और तत्पश्चात् **पाँच बार** नमस्कार करना कहा गया है। **तीन बार** का प्रणमन **कायिक, वाचनिक** और **मानसिक** है। इससे **मनसा, वाचा, कर्मणा** संवेश अर्थात् **तादात्म्य** होता है और **पञ्च-नमस्कृति** अर्थात् **पाँच बार** के **'प्रणमन'** से **पञ्च-ज्ञानेन्द्रियों के संवेश** का तात्पर्य है। यह भी एक-दो बार करने का विषय नहीं है। इसी से **'सततम्'** पद का प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग भी **एकाधिक** बार किया गया है, जिससे इस पर **साधक** का ध्यान रहे। **'प्रणमन'** की सजातीय निरन्तर धारा छिन्न न होने पाए। यह नियम जिस प्रकार **'भक्ति'-योग** में निर्दिष्ट है, उसी प्रकार **'क्रिया'** और **'ज्ञान'-योग-द्वय** में भी है। ब्रह्म-सूत्र-द्वय—**'आवृत्ति-रस-कृदुपदेशात'** और **'आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्'** इस सतत करने के सिद्धान्त के पोषक हैं। **'छान्दोग्य श्रुति'** का भी यही सिद्धान्त है— **'खल्वेवं यावदायुष्यं ब्रह्म वर्तयन् लोकमभि-सपद्यते।'** (८।१५)। **'पातञ्जल योग-दर्शन'** भी कहता है— **'स (अभ्यास) तु दीर्घ-काल-नैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढ़-भूमिः।'**

तत्पश्चात् **'नियताः'** पद पर भी विशेष ध्यान रहे। **नियताः— 'नि = नितरां + यताः = यतेन्द्रियाः'** का अर्थ है **संयत प्राण** और **मनवाले। (मन** भी एक **इन्द्रिय** है, जिसकी **एकादश इन्द्रियों** में परिगणना है।)

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि **'नमन'**-क्रिया और **'नाम-जपन'** या **'कीर्तन'**-क्रिया का आधार एक ही है। एक ही **'नम्'** धातु से बने **'नमन्'** और **'नाम'**-पद हैं। यादृश **नमन** का तात्पर्य है— **'आत्म-विस्मरण'** या **आत्म-लय**, तादृश ही **'नाम-जपन-प्रक्रिया'** का तात्पर्य है। सभी **नामों** या **रूपों** का लय उसी **एक नाम** में करना चाहिए। इससे **आत्म-नाम** के सङ्ग **'आत्म-रूप'** का लय हो ही जाता है।

उक्त **'प्रणमन'**-प्रक्रिया से पार्वती प्रत्यक्ष हो जाह्नवी में अवगाहनार्थ उतर आती हैं। इस रूपकोक्ति से ऐसा बोध होता है कि **'पार्वती'** अर्थात् पर्वत-राज हिमालय— **व्यष्टि के सहस्रार के ब्रह्म-रन्ध्र में रहनेवाली कूटस्थ आद्या-शक्ति** हमारे ज्ञान-गम्य हो जाती है अर्थात् प्रादुर्भूत हो जाती है। समष्टि-रूप में यदि ऐसा मानें कि पर्वत-प्रदेश के अभिमानी देव की लड़की यह

पार्वती है, तो इसमें कोई विशेष आपत्ति नहीं। यह **आधिदैविक** दृष्टि-कोण मात्र है। **'पार्वती का गङ्गा-स्नानार्थ'** उतर आने का रहस्यार्थ यह है कि **'पार्वती'** कोई हम मनुष्य-जैसा स्नानादिक शौच-क्रिया नहीं करती क्योंकि यह पार्थिव शरीरवाली नहीं है। इससे कुछ और ही बोध है, जिसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं—

'जाह्नवी' पद का अर्थ है **'जह्नु'** से हुई। अब **'जह्नु'**-पद **'हा त्यागे + नु उणादि'** से बना है। **'जह्नु'**-भाव का अर्थ है— **'त्याग या लय-भाव'**। यह **अहं-कृति** का त्याग और **ब्रह्म-लय** है। इसी **ब्रह्म-भाव** की धारा में **'पार्वती'** अर्थात् **साधक** की **ब्राह्मी-शक्ति** अवगाहन करने (गोता लगाने) आती है। **'तोय'** नाम **रस** का है। तात्पर्य कि **नमस्क्रिया** के पर्याप्त **साधन** से **साधक ब्रह्मानन्द-रस** में अवगाहन करने लगता है। **'क्रिया-योग-क्रम'** में **साधक** की कूटस्था **महा-प्राण-शक्ति** श्वास-प्रश्वास की त्यागावस्था अर्थात् **समाधि-अवस्था** में अवस्थित हो जाती है, ऐसा तात्पर्य है और **'भक्ति-योग-क्रम'** में विश्व-प्रेम की सत्ता निकृष्ट **अहं-कृति** की त्याग-धारा में **प्रेम-रस** में लुप्त हो जाती है, ऐसा बोध है।

इस अवस्था में **साधक** क्या करता है? उसमें स्वतः ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि अब मुझे क्या करना है। **'पार्वती'** ने जो देव-गणों से जिज्ञासा की, इसी का द्योतक है। अब तत्क्षण अर्थात् **मन** में ऐसा विचार उत्पन्न होते ही **साधक** की **'कौशिकी'-शक्ति** का प्रादुर्भाव होता है। इसी शक्ति की दूसरी संज्ञा है— **'अम्बिका'** अर्थात् **'गायत्री'**। वैसे **अम्बा** या **अम्बिका** का अर्थ है **माता**, पर **'अवि शब्दे'** से बना **अम्बा-पद** का वाच्यार्थ है— शब्द या गान करनेवाली, जिसको **'गायत्री'-शक्ति** कहते हैं। **'गायत्री'**, स्पन्दन-गान करती है।

उक्त शक्ति **साधन-समर** में साधक के त्राणार्थ कूटस्थ **'पार्वती'**-महा-शक्ति से निकल पड़ती है। किस रूप में? महा-सुन्दर रूप में। यह सुन्दरता केवल **रूप** की नहीं है। यह ऐसी सुन्दरता है, जिसके तादात्म्य से निखिल विश्व सुन्दर हो जाता है। कुत्सित-से-कुत्सित वस्तु और भयङ्कर-से-भयङ्कर वस्तु भी इस **सुन्दरी के उपासक** के लिए सुन्दर हो जाते हैं। दो शब्दों में साधक का **'त्रिपुर'** अर्थात् **'ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय'**— तीनों सुन्दर हो उठते हैं। इसी से **'तन्त्रों'** में यह शक्ति **'त्रिपुर-सुन्दरी'** कही जाती है। यही **शक्ति** प्रकृत मनोहर अर्थात **लयङ्करी**-पद-वाच्य है।

धन्य है वह **'चण्ड'**, जिसको इसका प्रथम दर्शन या आभास मिलता है और धन्य है **'शुम्भ'**, जिसको इसकी प्राप्ति की इच्छा होती है। यही **सुन्दरता** वह लाभ है, जिसके समक्ष अन्य लाभ नगण्य हैं। इस लाभ के हेतु **'शुम्भत्व'** या **'त्रैलोक्येश्वरत्व'** का भी त्याग करना पड़ता है। **'त्रैलोक्येश्वरत्व'** है— **'ईश्वरत्व'**। **'ईश्वरत्व'** से श्रेष्ठ पद है— **'परमेश्वरत्व'**, जिससे ऊपर या श्रेष्ठ अन्य सत्ता नहीं है।

'श्रीदुर्गा-सप्तशती' का **तीसरा चरित** या उपाख्यान उपर्युक्त तथ्य का ही रूपको में वर्णन करता है। इसमें यह बताया गया है कि **साधक** किस प्रकार अपने **'शुम्भत्व'**, **'निशुम्भत्व'** आदि का त्याग कर सकता है। यहाँ इतना उल्लेख्य है कि जहाँ **रावण**, परा-शक्ति **सीता** का

छद्म से अपहरण कर अपनी बनाना चाहता है, वहाँ **शुम्भ** बल-पूर्वक ऐसा करना चाहता है। बात एक ही है। **साधन** में पृथकृता है, **लक्ष्य** में नहीं।

'चण्ड-मुण्ड' ने **'त्रिपुर-सुन्दरी'** को देख **'शुम्भ'** से कहा—"महाराज, हमने एक स्त्री को अभी देखा है, जो अपने रूप से समस्त हिमाञ्चल को उद्भासित कर रही है। दसों दिशाओं को प्रकाशित करनेवाली यह स्त्री कौन है? जब तीनों लोकों के सभी रत्न आपने प्राप्त किए हैं, तो फिर इस स्त्री-रत्न को भी प्राप्त करें।"

अब प्रश्न यह है कि **'शुम्भ'** के बहुत से भृत्य थे। फिर केवल **'चण्ड-मुण्ड'** का ही नाम क्यों लिया गया? वस्तुतः **'चण्डत्व'** है— **'दर्प'**, जैसा पूर्व कहा जा चुका है। लाभ से सम्वर्धित **'दर्प'** ही अतिरिक्त लाभेच्छा का लानेवाला है। यथा— लक्षेश-जन्य दर्प से कोटीश्वरत्व के लाभ की इच्छा होती है, कोटिश्वरत्व का दर्प राजा, राजा-दर्प महाराज व चक्रवर्ती होना चाहता है। फिर ईश्वरत्व या त्रैलोक्येश्वरत्व, विश्वेश्वरत्व या परमेश्वरत्व की लिप्सा लाता है। त्रैलोक्य के रत्नों से **'योग-विभूतियों'** का तात्पर्य है, जो **'शुम्भ'** को प्राप्त थीं। यथा—

(१) **पुरन्दर से ऐरावत, उच्चैःश्रवा** तथा **पारिजात— 'पुरन्दर'** वह है, जो पुरों अर्थात् चक्रों का भेदन कर लेता है। यह हुई **'क्रिया-योग'** की बात। **'ज्ञान-योग'** में चक्र हैं— 'ज्ञान-भूमिकाएँ'। अतः उसके अनुसार सातवीं भूमिका में अवस्थित व्यक्ति **'पुरन्दर'**-पद-वाच्य है। **'उच्चैःश्रवा'** का अर्थ है— दिव्य-श्रोत्र का होना। यह एक **'योग-विभूति'** है, जो विष्णु-ग्रन्थि-भेदक को स्वतः प्राप्त है। **'पारिजात वृक्ष'** से प्राकाम्य सिद्धि का बोध है।

(२) **वेधस से हँस** और **विमान—'वेधस्'** से यहाँ **ब्रह्मा** का बोध नहीं है। **'वेधस्'** सूर्य का भी नाम है। **'सौर शक्ति-सम्पन्न'** व्यक्ति **'वेधस्'** है। 'तन्त्रों' में **'सूर्य-विज्ञान'** की संज्ञा **'काम-कला विद्या'** है। इसका विमान **'हंस'** है। यहाँ विमान का अर्थ है— **वि** = विशेष + **मान** = धारणा। तात्पर्य यह है कि **'काम-कला विद्या'** की धारणा **'हंस'** की विशेष धारणा से है। वैसे तो, **'हंस'**-नाम रक्षा करनेवाले का है, परन्तु यहाँ **'हंस'** का अर्थ मारनेवाले का है— **'हन्तोति हंसः'**। इसका समाधान यह है कि अनुलोम-क्रम से **'प्रणव'** नहीं है किन्तु विलोम-क्रम से अर्थात् जब इस शब्द का रूप **'सःहं'** हो जाता है, यह **'प्रणव'**-वाचक हो जाता है। यही **'सोऽहं'— 'काम-कला विद्या'** कही जाती है।

अनुलोम-क्रम से **'हंस'**-पद से **'अपर-प्राण'** या **'अपर-प्रणव'** का बोध है, जो जीवों की प्राणावधि या आयुष्य तक जीव की रक्षा करता है और आयु शेष होने पर जीव के शरीर से निकल उसको मार देता है। फिर विलोम रूप से अर्थात् इसकी प्रक्रिया को उलट देने से यह अमर कर देनेवाला हो जाता है, जिससे **'पर प्रणव'** कहलाता है। **'क्रिया-योग-क्रम'** में हंस-विमानवाले से आकाश-गामी का भी बोध है। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में हंस-रूपी विमानवाले से **'प्रणव'** या **'शब्द-ब्रह्म'** की विशिष्ट रूप से मान करनेवाली शक्ति से सम्पन्नता का बोध है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आकाश-गमन कल्पना मात्र नहीं है। **पतञ्जलि का 'योग-विज्ञान'** कहता है कि काय और आकाश के सम्बन्ध के संयम से रुई (तुला)-सा हल्का होकर योगी आकाश में उड़ता है। स्व० विशुद्धानन्द जी महाराज (गन्ध बाबा), जिनको स्वर्गीय हुए बहुत दिन नहीं हुए हैं, आकाश-मार्ग से आते-जाते थे। काशी के एकाक्ष बाबा जी भी ऐसा करते थे। दरभङ्गा के स्व० महाराज रामेश्वरसिंह को इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिला था।

(३) **कुबेर** से **'पद्म'**-नाम की महा-निधि—कुबेर से **'कावेरी विद्या'** का जिसकी दूसरी संज्ञा **'श्रीविद्या'** का बोध है। **'कुबेर'** उत्तर दिशा का स्वामी है। उत्तर दिशा से **'उत्तराम्नाय'** या **'उत्तर मार्ग'** का तात्पर्य है। **'उत्तराम्नाय'** के क्रम से साधन करने से **'नवो निधियों की प्राप्ति'** कही जाती है। **'पद्म'** के अष्ट-दल होते हैं। कर्णिका के साथ इनकी संख्या नौ है। इस प्रकार **'पद्म'— 'नव-निधि'** का भी द्योतक है। इसकी प्राप्ति **'पातञ्जल योग-दर्शन'** ने भी मानी है। **'भक्ति-योग-क्रम'** में **'नवधा-भक्ति'** की सिद्धि से **'नव-सिद्धि'** की प्राप्ति है और **'ज्ञान-योग-क्रम'** में ये नव-निधियाँ **'ज्ञान-विभूतियाँ'** कही गई हैं।

(४) **अब्धि** से किंजल्किनी-संज्ञक अम्लान **पङ्कज-माला—'अब्धि'** से आप अर्थात् ज्योति एवं रस दोनों का क्रमशः **'ज्ञान-योग-क्रम'** और **'क्रिया-योग-क्रम'** में बोध है। ज्योति से **'ज्ञान'** का और रस से सहस्रार से जो **'अमृत-रस'** टपकता रहता है, उसका बोध है। उक्त **'ज्ञान'** अथवा **'रस'** का भण्डार **'अब्धि'** है। यह आकर या भाण्डार उसी को प्राप्त है, जो **'ज्योति-विज्ञान'** अथवा **'रस-विज्ञान'** का पूर्ण ज्ञाता हो जाता है। इस विद्या से उसको अम्लान अर्थात् **'ह्रास न होनेवाली ज्ञान-माला'** या **'ज्ञान-राशि'** अथवा **'रस-माला'** अर्थात् प्राण-पोषक रस-राशि, जो कभी सूखने नहीं पाती, मिलती है।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि **'रस'** अनेक प्रकार के हैं, जो शरीर के अनेक **'ग्लैण्ड'** से निकलते रहते हैं, पर ये अशुद्ध या दूषित नाड़ियों के कारण अपना-अपना काम नहीं कर पाते। इसी से **'नाड़ी-शुद्धि'** योग-प्रक्रिया का प्रथम-कर्तव्य है। जिन **'क्रिया-योगियों'** ने **'नाड़ी-शुद्धि'** कर ली है, उनके **'रस-वर्ग'** अम्लान रहकर उनको अजर-अमर कर देते हैं। **'अम्लान रस-माला'** को **'कठ'**-श्रुति में 'सृङ्का' कहा है, जिसके दो अर्थ **भाष्यकार शङ्कर** ने कहे हैं— एक **'शब्द-वती'** और दूसरा शुद्ध **'प्राण-गतिवाली'**।

(५) **'वरुण'** से काञ्चन बरसानेवाला **'छत्र'—'वरुण'** से **'वारुणी'** अर्थात् **'गायत्री विद्या'** का बोध है। इसके साधन से छत्र अर्थात् रक्षक की प्राप्ति है। यह छत्र काञ्चन की वर्षा करता रहता है। काञ्चन का अर्थ है— दीप्ति-कारक। **'गायत्री'** त्राण करनेवाली है, जिसकी आभा सतत बिखरती रहती है। यही वह छत्र-छाया है, जिसके नीचे **शुम्भ-सा साधक** सदा रहता है।

(६) **'प्रजा-पति'** से श्रेष्ठ **'स्यन्दन'—'प्रजा-पति'** समना या त्रिगुणात्मक हैं। यह

समना-शक्ति जब उन्मना-रूप में परिणत होती है, तभी परिशुद्ध होती है। यह जिस साधन से होता है अर्थात् जीव जो समना-अवस्था से उन्मनावस्था में पहुँचता है, उसी का नाम **'स्यन्दन'** है। **'स्यन्दन'** के दो अर्थ हैं— एक जो चले और दूसरा जो स्रवण करे। यह **'क्रिया-योग'** का विषय है। अतः विशिष्ट रूप के चलने या चूनेवाले का बोध है। **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **स्यन्दन** उच्च भूमिका पर मन के जाने का और **'क्रिया-योग-क्रम'** में प्राण की ऊर्ध्व-गति का साधन है, परन्तु इस **स्यन्दन** वा साधन से वहाँ तक जाने में असमर्थ है। इसी से **'स्त्री-रत्न'** की अभिलाषा है।

(७) **'मृत्यु'** से **'उत्क्रान्तिदा शक्ति'**— मृत्यु दो प्रकार की है। एक है **'हेय'**, जो शरीर और प्राण के विच्छेद-रूप है। यह अयथार्थ भी है, कारण इस मृत्यु में आभ्यन्तरिक अभिलाषा के रह जाने से प्राण या आत्मा को दूसरा शरीर ग्रहण करना पड़ता है। दूसरी है **'उपादेय'** जिसमें शरीर के विच्छेद के साथ अनुशयों अर्थात् **'मन'** का भी, जिसमें सभी प्रकार की आभ्यन्तरिक अभिलाषाओं की अवस्थिति है विच्छेद हो जाता है, जिससे पुनर्जन्म नहीं होता। **'संयम'**— उपादेय मृत्यु या **मुक्ति** देनेवाला है। पर-मृत्यु की शक्ति— **'उत्क्रान्तिदा'** है। **उत्** = ऊपर अर्थात् परम स्थान या ब्रह्म-लोक + **क्रान्ति** = गमन + **दा** = देनेवाली। अर्थात् **'मुक्ति देनेवाली शक्ति'**। यहाँ **'उत्क्रान्ति'** से **'स्वर्ग-गति'** का ही बोध है, इसी से **शुम्भ** को **'स्त्री-रत्न' की अभिलाषा** है, जिससे **परम-पद की प्राप्ति** होती है, जहाँ से लौटना नहीं पड़ता।

(८) **'सलिल-राज'** से **'पाश'**—**'सलिल'** (षल्-गमने) का अर्थ है—**'गति-शक्ति'**। इसका मुख्य आयुध या साधन **'पाश'** है अर्थात् बाँधनेवाला भाव— **'अनुराग'**। यह **अस्मिता-रूपी** **शुम्भ** को **'ममता'** से प्राप्त है। **'ममता'** ही अनुराग है। **'परिग्रह'**-पद भी रहस्य-मय है। यह **'परिग्रह'** तामस या राजस नहीं, सात्विक है। वह भी **'स्त्री-रत्न'** की तुलना में माना गया है। कारण **'सात्विक परिग्रह'** भी परम-पद की प्राप्ति का विरोधी है।

निशुम्भ के द्वारा **शुम्भ** को अर्थात् **ममता** द्वारा **अस्मिता** को **अब्धि** के समस्त रत्न प्राप्त हैं। दूसरे शब्दों में ममत्व को **'अब्धि'** अर्थात् कर्माशय की अखिल विभूति परिगृहीत थी, परन्तु विभूतियाँ **परम-पद की प्राप्ति** में बाधक हैं। यह त्रुटि **'शुम्भ'** में है, जो उसे अन्तः-प्रेरणा से दीख पड़ती है। **'चण्ड'** का निवेदन शुम्भाधिष्ठित उच्च सात्विक साधक का है। आत्म-विचार-दर्प-भाव से जब कोई विचार उत्पन्न होता है, तो **अन्तरात्मा-गुरु** की अनुकम्पा से त्रुटियाँ भी दीख पड़ने लगती है।

(९) **'वह्नि'** से निर्मल करनेवाले **'ऊर्ध्व एवं अधो-वस्त्र-युगल'**— **'वस्त्र'** शरीर का रक्षक है। शरीर से यहाँ **'विज्ञान-मय कोश** का तात्पर्य है। उक्त वस्त्र-द्वय को **'कवच'** कह सकते हैं। **'ज्ञान-योग'** में **'वह्नि'** से **'ज्ञानाग्नि'** का और **'क्रिया-योग'** में **'प्राणाग्नि'** का तात्पर्य है। इस कवच-द्वय से जीव का ज्ञान सुरक्षित रहता है। **'क्रिया-योग-क्रम** में **'अग्नि'— प्राण** है, अतः **शुम्भ अर्थात् प्राण-विज्ञानी साधक** को ये **'कवच'** प्राप्त हैं, जिसने **'ब्रह्म-ग्रन्थि'** एवं **'विष्णु-ग्रन्थि'**

भेदन कर लिया है, परन्तु **'मन'** या **'प्राण'** की पूर्ण शुद्धता नहीं होती, जब तक अन्तिम **'रुद्र-ग्रन्थि'** का भेदन न हो जाए। इसी से **'स्त्री-रत्न' की अभिलाषा है।**

अस्तु, **चण्ड** की यह उक्ति **'त्वया कस्मान्न गृह्यते'** प्रश्न-वाचक नहीं है। यह **विमर्श-वाचक** या **मन्त्रणा-दात्री** उक्ति है, जिसका तात्पर्य है कि **सात्त्विक दर्प** या **श्रेयस्-भाव** के द्वारा **शुम्भ** को यह सूझ होती है कि **साधन-पद** की सारी विभूतियाँ तो प्राप्त हैं, अब **'कैवल्य-पद'** की प्राप्ति हो क्योंकि यही तो वह वस्तु है, जिसकी प्राप्ति होने पर सभी सिद्धियाँ नगण्य होती हैं। दूसरे शब्दों में **सात्त्विकी अस्मिता (शुम्भ)** अपने चरम-लक्ष्य क़ी प्राप्ति के निमित अर्थात् **स्व-धर्म** की प्रेरणा से **स्वरूप** में आने के लिए **निधन** चाहती है। यह **'स्व-धर्म'** सात्त्विक **जीव** में ही है। इसी से बहुत से आचार्य **'सात्त्विक'** होना ही **जीव** का चरम लक्ष्य मानते हैं।

अन्तरात्मा-रूपी गुरु अथवा **भगवती विमर्श-शक्ति** की अनुकम्पा से जब उक्त **भावना** दृढ़ हो जाती है, तो **शुम्भ 'सुग्रीव'** को **दूत** बना वहाँ भेजता है। **'सुग्रीव'** से **सुन्दर भाव-वाहिनी सत्ता** या **सत्सङ्कल्प** का तात्पर्य है। इसकी विशिष्ट त्रुटि है— **असीम** को **ससीम** में ले आने की **अभिलाषा। शुम्भ** की इस इच्छा का खण्डन **भगवती** इन शब्दों में करती है— "हे दूत! तुम जो कहते हो, वह सत्य है। शुम्भ तीनों लोकों का स्वामी है और उसे त्रैलोक्य के सारे रत्न प्राप्त हैं, परन्तु मेरी जो प्रतिज्ञा है, उसे कैसे तोड़ूँ? अल्प-बुद्धि के कारण जो प्रतिज्ञा मैंने पूर्व में की है, वह यह है कि **'जो मुझे संग्राम में पराजित कर दे, मेरे दर्प को चूर्ण करे अथवा जो मेरे समान ही बली हो, वही मेरा पति होगा।'** अतः व्यर्थ विलम्ब क्यों, **शुम्भ या निशुम्भ** मुझे पराजित कर मेरा पाणि-ग्रहण कर लें।"

उक्त उक्ति का भावार्थ ऐसा है— "**शुम्भ** त्रैलोक्येश्वर अवश्य है, पर मुझे अर्थात् **कैवल्य-लाभ** को वह इस प्रकार नहीं प्राप्त कर सकता। ऐसा नियम **पुरा** अर्थात् **सृष्टि के पूर्व** ही **प्रतिज्ञात** अर्थात् **निश्चित** किया गया है। इस **नियति** के अधीन विश्व के परम-श्रेष्ठ **जीव महा-रुद्र** और सर्व कनिष्ठ एक तृण भी है।" (योग-वासिष्ठ)

प्रायः सभी **'भक्ति-योगी'** यह समझते हैं कि **भगवती** जो चाहें, कर सकती हैं। यह भ्रान्त धारणा है। **भगवती** अपने बनाए **नियमों** को तोड़ नहीं सकतीं। **नियम** को तोड़कर भी **नियति** को यथार्थतः तोड़ती नहीं हैं, यह **देव-गण** को समझ में नहीं आ सकता। गोसाई जी ने कहा है—

'तुलसी' भावी प्रबल है, मेट सके नहि राम!
मेरे तो अचरज नहीं, समझ किया है काम॥

'अल्प-बुद्धित्वात्'-पद का प्रयोग **भगवती** ने अपने लिए नहीं, **जीवों** के लिए किया है। तात्पर्य कि जो भी **जीव** हैं, सभी **अल्प-बुद्धिवाले** हैं। उन्हीं के लिए ऐसा **नियम** करना पड़ा।

भगवती की प्राप्ति कैसे सम्भव है? इस सम्बन्ध में जो **रूपकोक्ति** कही गई है, उसमें **विरोधाभास** है। पहिले कहा है कि **'जो संग्राम में मुझे पराजित करे।'** फिर कहा है क़ि **'जो मेरे समान बली हो।'** विरोध यह पड़ता है कि **समान बली** पराजित नहीं कर सकती। अतः या

तो **प्रति-बली** का उल्लेख व्यर्थ है या **'यो मां जयति'** की उक्ति।

वस्तुतः यहाँ **नियति** के ३ नियमों का उल्लेख है— (१) **संग्राम में पराजित करना,** (२) **दर्प का व्यपोहन** अर्थात् **खण्डन** और (३) **प्रति-बली होना।**

(१) **संग्राम** से **'सम-वलय'**-नामक श्रेष्ठ **मुक्ति-दायक साधन** का तात्पर्य है। **'क्रिया-योग'** में यह **संग्राम** है— **'प्राण-संग्राम'**, जिसमें **मन** पर विजय पाकर **जीवन-मुक्त** होता है।

(२) **'दर्प' 'प्राण'** और **'मन'** की मलिनता है। दूसरे शब्दों में **अस्मिता** पर विजय पाना है अर्थात् अपने में से **दर्प-भाव** को निकाल बाहर करना है। तभी **'प्राण'** और **'मन'** की **अस्थिरता** हटती है और **जीव** की एकता **'पर-प्राण-शक्ति'** अर्थात् **स्थिर प्राण** से होती है, जिससे **प्रशान्तावस्था** होती है, जो **साधन का चरम लक्ष्य** है।

(३) **प्रतिबल** या समान बल-शाली होना **'ज्ञान-योग-क्रम'** में **'साम्यावस्था'** में अवस्थिति है। **'साम्यावस्था'** पाँच प्रकार की है— (१) **अधिष्ठान,** (२) **अवस्थान,** (३) **अनुष्ठान,** (४) **रूप** और (५) **नाम।** **आंशिक साम्य** से पूरा काम नहीं होता। उक्त **पाँचों साम्यों** की प्राप्ति से ही **नित्य साम्यावस्था** आती है, जिससे **भगवती** के भर्त्ता **शिव** के **'शिवत्व'** की प्राप्ति है। **'समय'**-नाम **शिव** का ही है— **'समं साम्यं याति प्राप्नोति इति हि समयः।' 'समय'** का पर्याय है— **'काल'।** **'काल'** होकर ही **'काली'** का भर्त्ता होता है। **'काली'—'प्राण-शक्ति'** है, उसका **भर्त्ता** (भरण-पोषण करनेवाला) **प्राण-शक्ति** को स्थिर रखनेवाला है। यह शक्ति **जीव** को **शिव** होने पर ही प्राप्त है।

अन्त में **भगवती** कहती हैं कि **'शुम्भ'** को **'समर'** अर्थात् **'साधन-समर'** में आने को कहो। **तर्क** से मेरी प्राप्ति असम्भव है।' 'श्रुति'-वाक्य— **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुना श्रुतेन', 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'** इत्यादि से स्पष्ट है कि किसी मात्रा में सुन लेने से अर्थात् पढ़ लेने से **'उस'** की प्राप्ति असम्भव है। **कर्म** करके जो **ज्ञान** होता है, वही **यथार्थ ज्ञान** है। **सिद्धान्त** का **ज्ञान** नहीं के बराबर है, यदि **अनुभूत** न किया गया। यही शिक्षा **विमर्श-रूपिणी भगवती सुग्रीव** अर्थात् **सुविचार-शक्ति** के द्वारा **सत्त्व-गुण-सम्पन्न शुम्भ** को देती है।

'सुग्रीवत्व' के निरास के पश्चात् **'धूम्र-लोचन'** या **शिथिलता** का नाश होता है। **शिथिलता** आंशिक सफलता से आती है। इसको **विक्षेप** या **विज्ञान-विपर्यय** भी कह सकते हैं।

'धूम्र-लोचन' का नाश **हूं-कार** से होता है। **हूं-कार—'क्रोध-बीज'** है। **'क्रोध'** अर्थात् **स्फुरत्ता** आने पर ही **'हूं-कार'** होता है। **'तन्त्र'** के अनुसार **'हूं-कार'** से **तारिणी** या **तारक-शक्ति** का प्रादुर्भाव होता है। साथ ही हममें **सुप्ता कुण्डलिनी** की जागृति इसी **'क्रोध-बीज'** से होती है।

उक्त **शिथिलता** अपने **उप-सर्गों** के साथ नष्ट होती है। **'धूम्र-लोचन'** की **सेना** अर्थात् **उप-सर्ग** साठ हजार कहे गए हैं, क्योंकि **विकारों** की संख्या **छः** है और **इन्द्रियों** की **दस।** इस प्रकार **उपसर्गों** की संख्या **साठ** है। **'सहस्र'** बहु-संख्या-वाची है।

साधक की **शिथिलता** के नष्ट होने पर उसकी **'प्राण-शक्ति'** और **मनः-शक्ति** का संवर्धन

होता है, जिससे उसका **मिथ्या-दर्प** कि **'मैं तमो और रजोगुण को जीत सात्त्विक हो चुका हूँ'** नष्ट हो जाता है। साथ ही **तर्क-बुद्धि** भी नष्ट हो जाती है। **तर्क-दर्शन** विशुद्ध **द्वैत-वादी** है। **तर्क** या **अनुमान** का नित्य साथी **प्रत्यनुमान** है। यही **प्रत्यनुमान** सत्य अनुमान का खण्डन करनेवाला है।

साधन-पथ में अग्रसर होने से **अनुमान** और **प्रत्यनुमान** की बुद्धि अर्थात् **मुण्डत्व** का, जो **दर्प** वा **चण्डत्व** का आधार है, नाश होता है। **अधिष्ठान** का **नाश** होने पर **अधिष्ठाता दर्प** या **चण्डत्व** का नाश स्वतः हो जाता है। कहा है कि शरीरस्थ **'प्राण-शक्ति'** की भृकुटी-भङ्ग-रूपी प्रक्रिया से **ललाट** अर्थात् **'आज्ञा-चक्र'** में से **कूटस्थ कराल-वदना काली-शक्ति** अर्थात् **कलन-शक्ति** का प्रादुर्भाव होता है। यह **कलन-शक्ति—'क्रिया-योग'** में **ज्योति-रूपिणी** और **ज्ञान-योग** में **'ज्ञान-रूपिणी'** कही जाती है। इसी **ज्योति** का दर्शन **'आज्ञा-चक्र'** में **क्रिया-योगियों** को होता है और **ज्ञान-योगियों** के मानस-क्षेत्र में **प्रत्यक्ष ज्ञान** का उदय होता है, जिससे **आनुमानिक** व **प्रत्यानुमानिक ज्ञान** या **मुण्डत्व** नष्ट होकर **'दर्प'** या **'चण्डत्व'** नष्ट हो जाता है।

'उत्थाय च महा-सिंहं देवी चण्डमधावत्' का हम लोग प्रायः अन्वय कर अर्थ का अनर्थ ही करते हैं। ठीक अन्वय है— **'हं देवी महासिं उत्थाय चण्डमधावत्।'**

अर्थात् **'हं देवी'** ने **बड़ी तलवार** को उठा **चण्ड** का पीछा किया।' **'हं देवी'**-पद का प्रकृत रूप हैं— **'अहं देवी'।** (अकार लुप्त है, जो व्याकरण-सम्मत है।) यही **'परा-अहं-कृति'** है, जो **'अहं'** के सिवा **'इदं'** नहीं जानती। यही **'प्रकाश-शक्ति'** है, जो **शुम्भ** को यह कहकर समझाती है कि **विश्व में दूसरा है कौन मेरे सिवा— 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा?'**

यह हुई **'वेदान्त'** या **'ज्ञान-योग'** की बात। **'क्रिया-योग'** में **'हं देवी'** से **'कुण्डली-शक्ति'** का बोध है क्योंकि प्रकृति के रूप में यह **'कुण्डली'** केवल **'हं'** या **'अहम्'**-शब्द-मात्र करती रहती है। **साधना** के बल से यह **'सोऽहं'** अथवा **'हंसः'** करने लगती है। तभी **'दर्प'** अर्थात् **अपरा अहं-कृति** का नाश करती है।

'दर्प' के पश्चात् **'रक्त-बीज'** अर्थात् **काम** का नाश होता है। यह **'सात्त्विक काम'** है। **'काम'** भी तीन प्रकार के हैं— (१) **'तामस काम'** दूसरे के धन या स्त्री का अपहरण है, (२) **'राजस काम'** न्याय-अभिवृद्धि है और (३) **'सात्त्विक काम'** दानार्थ धन है, पर-रक्षणार्थ शक्ति की कामना इत्यादि है। **सांसारिक दृष्टि से सात्त्विक काम** बहुत अच्छा है, पर **परमार्थ-दृष्टि** से इसमें एक बहुत बड़ा दोष है। यह दोष **द्वैत-भाव** का है और किसी भी प्रकार का **द्वैत-भाव** सम-वलय **मुक्ति** का विरोधी है। महर्षियों का कहना है कि न **'बन्धन'** है, न **'मुक्ति'** है। मनोविज्ञान के अनुसार जहाँ **'मुक्ति'** का भाव है, वहाँ **'बन्धन'** का भी भाव छिपा रहता है। हम **'पाश-बद्ध'** हैं, तभी तो **'मुक्ति'** की कामना करते हैं। **मुक्त** होने पर **'बन्धन-भाव'** रह ही जाता है क्योंकि भय रहता है कि कहीं फिर **'पाश-बद्ध'** न हो जाएँ। इस प्रकार जैसे हमारा यह समझना कि **'हम पशु हैं'** या **'बद्ध हैं'** भ्रान्ति है, वैसे ही यह समझना भी कि

'योऽहमस्मि सोऽहमस्मि ब्रह्मास्मि।'
'हम मुक्त हैं', भ्रान्ति ही है। इसी से 'श्रुति' कहती है—
तात्पर्य कि **'मैं जो भी होऊँ, मैं वही हूँ— ब्रह्म हूँ'** अर्थात् मैं बद्ध हूँ या मुक्त, **'उस'** से
अभिन्न हूँ क्योंकि **ब्रह्म** हूँ क्योंकि **ब्रह्म के सिवा तो दूसरा है नहीं।** इस प्रकार सिद्ध है कि
'सात्त्विक कामना' भी **भ्रान्ति** ही है, अतएव इसका नाश उचित है।

'चण्ड-मुण्ड' के नाश अर्थात् **साधक** के **'चण्डत्व-मुण्डत्व'** के लय होने पर, उसमें स्फुरत्ता की वृद्धि अति-मात्रा में होती है। **'कोप-पराधीन-चेतः'** का यही भाव है कि **शुम्भ** ने अन्य सभी वस्तुओं की ओर से उदासीन हो अपना सारा मन और सामर्थ्य **साधन-समर** में लगा दिया, ताकि उसका **'पाशाष्टक'** कटे।

'पाश' का द्योतक **'राक्षस'** है। **'राक्षस'** आठ प्रकार के कहे गए हैं— (१) **उदायुध**, (२) **कम्बु**, (३) **कोटि-वीर्य**, (४) **धौम्र**, (५) **कालक**, (६) **दौर्हद**, (७) **मौर्य** एवं (८) **कालकेय।** 'तन्त्रोक्त' पाशाष्टक इस प्रकार हैं—

घृणा लज्जा भयं शोको, जुगुप्सा चेति पञ्चमी। कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥

उक्त **आठों राक्षसों की विवेचना** संक्षेप में इस प्रकार है—

(१) **उदायुध—** ऊपर उठा हुआ **'अस्त्र'** अर्थात् प्रस्तुत **हानि-कारक भाव। 'हानि'** का आधार **'घृणा'** है। इसमें **अहं-कृति** सन्निहित है, **द्वैत-भाव** भी है। मैं बड़ा हूँ, वह छोटा है; मैं अच्छा हूँ, वह खराब है— इसी धारणा को **'घृणा'** कहते हैं। **उदायुध-दल** की संख्या **८६** कही है, तात्पर्य **'घृणा'** के भेद और अवान्तर भेद **८६** हैं। **१४** करणों की **चारों अवस्थाएँ** (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय) = ५६। **अन्तःकरण ४**, उक्त हिसाब से **१६**। कुल **५६ + १६ = ७२**। इसमें **पर-सुषुप्ति-अवस्था** के **१४ करणों** की **घृणाओं** को मिलाने से **८६** हुई। अन्तिम प्रकार की **'घृणा'** अपनी ही **शिथिलता** के प्रति होती है।

(२) **'कम्बु'—** इससे **आत्म-गोपनीयता** (अपनी दुर्बलता को छिपाना) या **'लज्जा'** का बोध है। **'लज्जा'** भी **द्वैत-भावापन्न** है। जहाँ भेद-भाव नहीं, वहाँ **'लज्जा'** भी नहीं। इनकी संख्या **चौरासी** है, क्योंकि **६ कोश** हैं, जिनके **१४-१४ करण** हैं।

(३) **कोटि-वीर्य—** अर्थात् **अनन्त शक्ति-शाली। आसुरी** प्रकरण में इससे **'भय'** का और **दैवी** प्रकरण में **'निर्भयता'** का बोध है। मेरी यह सम्पत्ति नष्ट होगी, मैं नष्ट होऊँगा, इत्यादि **आशङ्का** ही **भय** है। इसका भी मूल **द्वैत-प्रतीति** ही है। इसकी संख्या **५०** कही है। **५ कोश** × **१० इन्द्रियाँ = ५०। आसुरी सर्गों** के **प्रकाश** के ये ही स्थान हैं।

(४) **धौम्र— धूम्र** अर्थात् **'प्रमाद'** या **'आलस्य'** या **अपर-लय** (स्तब्धता) के **अनुशय** बीज-राशि। ये **द्वैत-प्रतीति-मूलक अस्मिता** के अङ्ग हैं। गुणातीतावस्था में पहुँचने के लिए इनका **लय** आवश्यक है। इनकी संख्या **१००** है अर्थात् **१० इन्द्रियाँ × १० भाव।**

(५) **कालक—** इससे **बहुत बोलनेवाले** से तात्पर्य है। बहु-भाषी **स्व-प्रशंसक** और **पर-निन्दक** होते ही हैं। अतः **'जुगुप्सा-भाव'** का बोध है।

(६) **दौर्हदाः— दुष्ट हृदय** की **दुष्ट भाव-राशि। हृदय** की **दुष्टता** का कारण **'कुल-भाव'** है, जिससे **अहं-कृति** बढ़ती है।

(७) **मौर्याः— 'मुर'** को **'शील'** या **सद्-भाव** कह सकते हैं। **सुशीलता** व्यक्ति को जगत् या समाज से **शील-सूत्र** में बाँधती है। इसी का विपरीत भाव है— **उदासीनता,** जिससे **'ममता'** और **'अस्मिता'** का नाश होता है।

(८) **कालकेयाः— 'कालक'** अर्थात् **अज्ञान-रूपी कृष्ण-वर्ण** के **असुर** के **अपत्य।** यह **जाति-भाव** का द्योतक है। **भेद-भाव** से ही इसकी परिपुष्टि होती है।

'श्रीदुर्गा-सप्तशती' में कहा गया है कि **असुराष्टक-सैन्य** को देख **भगवती चण्डी** ने **'धनुर्नाद'** किया, **सिंह** ने भी **'नाद'** किया, फिर **'घण्टा-नाद'** हुआ। इन **तीनों नादों** से दिक्-मण्डल भर गया। साथ ही **चण्डी-देवी** के **भ्रू-मध्य** से उत्पन्न **भगवती काली** का भी **'नाद'** हुआ। वस्तुतः **चण्डी 'प्राण-शक्ति'** है। **'धनुष'** हमारा शरीर है, जिसके **तीन ताँतें** हैं। इनमें मध्य की एक ही **ताँत** काम करती है। **धनुर्दण्ड** हमारा **मेरु-दण्ड** है। **मध्यमा तन्त्री** या **सुषुम्ना** से **'प्रणव'** की ध्वनि या **नाद** निकलता है। **'प्रणव'-ध्वनि** अन्य **दोनों तन्त्रियों (इड़ा-पिङ्गला)** से भी निकलती है, परन्तु उससे काम नहीं चलता। **'ॐकार-नाद'** के साधन से **सिंह-नाद** अर्थात् जीव-शरीर में स्थित **सारी चेतना** ध्वनि करने लगती है और तब **'घण्टा-नाद'** अर्थात् सभी प्रकार के **नाद** होने लगते हैं। साधक में **'नाद-शक्ति'** के बलवती होने पर उसकी **विलयङ्करी शक्ति (काली)** का भीषण नाद **अर्थात्** उस **तैजस् आत्म-शक्ति** का जोरदार स्फुरण हो जाता है।

इसी **साधनावस्था** में **साधक** की **चेतना-राशि** सक्रिय हो **आसुरी सर्गों** को नष्ट करती है। **१ ब्राह्मी, २ शैवी, ३ कौमारी, ४ वैष्णवी** और **५ ऐन्द्री—** ये पाँचों हमारी प्रधान **पञ्च प्राण-शक्तियाँ** हैं, जो **साधन** द्वारा जाग्रत् हो **'परा प्राण-शक्ति भगवती चण्डी'** की सहायता करने लगती हैं। गौण **प्राण-शक्तियों** की कोई एक संख्या नहीं है।

उक्त **चेतनाओं** के योग-दान से **साधना** को सफल करनेवाली **'अपराजिता शक्ति'** सक्रिय हो उठती है। **चेतना** की मात्रा के अनुसार ही ये **शक्तियाँ** काम कर सकती हैं। **सिद्धि** की पूर्णता तभी होती है, जब इन **शक्तियों** को **पूर्ण चेतना** आती है। **'शुम्भ'—जीव** में यह **पूर्ण चेतना** अब आने को है।

इसी हेतु उक्त **अपराजिता (विजया)** शक्ति **ईशान** अर्थात् **'अहं-कृति'**-सम्पन्न **जीव** से पूछती है— **"तुम क्या चाहते हो?"** अर्थात् तुम **'विदेह-मुक्ति'** चाहते हो कि **'जीवन्मुक्ति'**? अगर **'जीवन्मुक्ति'** चाहते हो, तो अपनी **ममता** (निशुम्भ), **काम** (रक्त-बीज) आदि को साथ ले पाताल में जाकर रहो और यदि **'विदेह-मुक्ति'** की इच्छा हो, तो **साधन-समर** में इनका **लय** करो। भगवती **'ईशान'** को दूत बनाकर भेजती है। अर्थात् **शुम्भस्थ ईशान** के द्वारा कहती है कि तुम **निवृत्ति-मार्गी** बनो या **प्रवृत्ति-मार्गी** रहो। इसी के अनुसार **सुरथ 'प्रवृत्ति-मार्गी'** हुए और समाधि **'निवृत्ति-मार्गी'**। कल्याण-प्रद **दोनों मार्ग** हैं।

कल्याण-स्वरूप **'ईशान'** के कहने से **शुम्भ** की सहन-शीलता नष्ट हो गई। तात्पर्य है कि
पूर्ण सिद्धि अर्थात् **गुणातीतावस्था** की उपलब्धि में **विलम्ब** असह्य हो उठा और तुरन्त अपने
काम के लय का **साधन** करता है क्योंकि बिना **'वासना-क्षय'** के न **'ममता'** जायगी और न
'अस्मिता'।

उक्त **'काम'** का एक रूप नष्ट होता है, तो अनेक अन्य रूपों की सृष्टि हो जाती है।
इसी भाव की द्योतक यह उक्ति है कि **'रक्त-बीज'** को तलवार से मारो, चक्र से काटो, भाले
से बींधो— यह मर तो जाता है, पर इन सबके आघात से जो भी **रुधिर-बिन्दु** पृथ्वी-तल
पर गिरेंगे, उनमें से प्रत्येक से **रक्त-बीज**-जैसा ही **पराक्रमी असुर** उठ खड़ा हो **साधना-समर** में
आ **युद्ध** अर्थात् **विघ्न** करने लगेगा।

'बिन्दु' का अर्थ यहाँ **'संवेदन चित्त-वृत्ति'** है। **'मेदिनी'** पद भी रहस्य-गर्भ है। पुराणों में
कहा है कि **'मधु-कैटभ'** के **मेद** से **'पृथ्वी'** बनी है। **'मेद'** पोषक धातु है।
'मधु-कैटभ'-'राग-द्वेष' हैं। **'राग-द्वेष'** का पोषक **अस्मिता-भाव** है। समस्त जगत् **अस्मिता** का
आश्रित है। **मन** में **अस्मिता** रहती है। इसी से कहा है कि **'रक्त-बीज'** अर्थात् **काम के बिन्दु**
अर्थात् **'ज्ञान के मेदिनी'** अर्थात् **'मन'** में आने से **'अपर काम'** का उदय होता है।

'काम' के पराक्रम से जब **साधक** की सभी **चेतना-शक्तियाँ** निराश-प्राय हो जाती हैं, तब
अन्तः-प्रेरणा होती है कि **'खेचरी-मुद्रा'** का साधन कर **काम** की आधार-भूमि **'मन'** को
निःसङ्कल्पात्मक बनाओ। तभी तुम्हारे प्रबल शत्रु **काम** का लय होगा। इसी भाव की रूपकोक्ति
यह है कि **चामुण्डा काली** से कहती हैं कि 'तुम अपनी **जिह्वा** को इतना विस्तारित करो कि
रक्त-बीज का **रक्त-बिन्दु** पृथ्वी पर न गिरने पाए। **बीच** में ही तुम उन्हें चाटती जाओ।''

'ज्ञान-योग' में **'वदन'** वा **ज्ञान** के इतने विस्तार से तात्पर्य है कि **असीम** हो जाय
अर्थात् **'मैं ब्रह्म हूँ'— 'मेरे सिवा कुछ है ही नहीं'—** ऐसा **ज्ञान** होने से किसी भी प्रकार की
कामना नहीं रह सकती। **'भक्ति-योग'** में **ज्ञान** का विस्तार यहाँ तक हो कि **'सब कुछ मेरे
भगवान् का ही है। वह जो कुछ या जितना भी दे, उसकी इच्छा। माँगना अपराध है।'**

'रक्त-बीज' अर्थात् **'काम'** के **लय** के पश्चात् शेष रह जाती हैं **'ममता'** और **'अस्मिता'**।
इन दो बन्धनों के टूटने पर जीव **'शिवत्व'** को पा **मातृ-अङ्क** में अवस्थित हो जाता है।
'काम' के लय से **'ममता'** निर्जीव-प्राय हो जाती है क्योंकि जब **वासना** नहीं है, तो **वासना**
की पूर्ति पर **'ममता'** रहेगी नहीं। इस अवस्था में **'ममता'** सीमित हो **'अस्मिता'** तक रह
जाती है। या अपने **'अस्तित्व-भाव'** की **'ममता'** अवशेष रह जाती है। इसी से उक्ति है कि
शुम्भ और **निशुम्भ—** दोनों एक साथ लड़ते हैं। यह युद्ध लम्बे अर्से तक हुआ।

इसमें **शुम्भ-निशुम्भ** की **पराजय** होती-होती रह जाती है। **'अस्मिता'** या **'ममता'** का **लय**
शीघ्र नहीं होता। जब **निशुम्भ** मूर्च्छित होता है अर्थात् **'ममता'** का **क्षणिक लय** होता है, तो
आठ भुजावाला शुम्भ समस्त आकाश को अपनी दीप्ति से आभासित करता रथ पर बैठा

हुआ आकर लड़ता है। इस उक्ति में तीन रहस्य हैं— (१) अकेले शुम्भ का रथस्थ हो युद्ध करना, (२) शुम्भ के आठ भुजाओं का होना और (३) अपने प्रकाश से नभ-मण्डल को दीप्त करना। इन रहस्यों का समाधान यह है कि—

(१) **रथ** केवल **शुम्भ** के पास था क्योंकि **रथ** है **'शरीर'** (क्रिया-योग) अथवा **'मन'** (ज्ञान-योग)। इसी **शरीर** या **मन-रूपी रथ** पर बैठ **जीव** रमण करता है। इसी एक **रथ** पर **जीव** की **अस्मिता ममता-सहित** रहती है। अतः **निशुम्भ** के पास **दूसरा रथ** या **अन्य सवारी** नहीं थी।

(२) **शुम्भ** की **अष्ट-भुजाएँ 'अष्टाङ्ग-योग'** की द्योतक हैं। अब **शुम्भ 'लय-योगी'** हो जाता है। अतः अपनी **'अष्टाङ्ग योग-सिद्धियों'** का **लय** करता है।

(३) उक्त **अष्ट-सिद्धियों** से प्रकाशित **राज-योगी शुम्भ** अपनी **आभा** से **नभ** अर्थात् **आत्मा** को **सर्वतो-मुख दीप्त** कर ही **युद्ध** अर्थात् **साधन** करने गया।

पहले **शुम्भ-निशुम्भ 'मातृ-गणों' से युद्ध** अर्थात् **अपरा-शक्तियों का साधन** करता है। फिर **परा-शक्ति 'चण्डिका'** का। **साधन** का ऐसा ही क्रम है। **'तन्त्र'** का निर्देश है कि **काली, तारा** और **षोडशी**— इन **महा-विद्याओं** का साधन **'क्रम-दीक्षा'** के अनुसार ही करे, अन्यथा **सिद्धि** के बदले **अनिष्टापत्ति** होती है। इस **युद्ध** में प्रथम **निशुम्भ** मूर्च्छित हो गिर पड़ता है अर्थात् कुछ समय के लिए **ममता का लय** हो जाता है। इस अवस्था में **साधक-जीव** का केवल **अहं-भाव** ही रहता है, परन्तु जब **ममता** सक्रिय हो जाती है अर्थात् **निशुम्भ** जाग उठता है, तब **शुम्भ** या **अस्मिता-भाव** युद्ध से निरस्त हो जाता है। इसी से **शुम्भ** और **निशुम्भ** एक साथ युद्ध नहीं करते।

शुम्भ के पश्चात् **निशुम्भ** अयुत (दश सहस्र) भुज होकर लड़ता है। **अयुत** अर्थात् बहु-संख्यक **'कर्म-योग'** द्वारा प्राप्त **सिद्धि-बल**। **निशुम्भ** पहले **चक्र** अर्थात् **माया** के प्रहार से **भगवती चण्डिका** अर्थात् **'ब्रह्मानन्द-ज्ञान'** को ढँकता है। इस **माया** को **द्वैत-प्रतीति** भी कहते हैं, जो **निशुम्भ** या **ममता** का **ब्रह्मास्त्र** है। **विदेह-मुक्त** के अतिरिक्त **जीवन-मुक्त सात्त्विक भावापन्न साधक** को जब **माया** व्याप्त करती है, तो क्षण भर के लिए। वह निरन्तर **स्व-शर** अर्थात् **पर-प्रणव-रूपी शर** से उस **चक्र** वा **माया-जाल** को काट गिराता है, जैसे **'सप्तशती'** में मूलोक्ति है। **'क्रिया-योग'** में **स्व-शर** के फेंकने का तात्पर्य **प्राण के आरोहणों** से, **'ज्ञान-योग'** में विज्ञान-रूप **आत्मा के ऊर्ध्व-ज्ञान-भूमिका पर आरोहण** से और **'भक्ति-योग'** में **आत्म-समर्पण** नाम की **प्रक्रिया** से है।

निशुम्भ या **'ममता'** का निपात **एक ही बार** या **एक ही रूप** में नहीं होता। हृदय पर **शूल** अर्थात् **ज्ञान-शूल** का प्रहार होता है। हृदय-स्थित **शूल** अर्थात् **अज्ञान** या **अविद्या** को निकालने के लिए, परन्तु **ज्ञान**-मात्र से **'ममता'** का पूर्णतः **लय** नहीं होता। इसी से उक्ति है कि **निशुम्भ** के **शूल-बिद्ध** होने पर उससे एक **'अपर' पुरुष** निकला। इसने **साधक** की **आत्म**

या **प्राण-शक्ति भगवती चण्डिका** को ललकारा अर्थात् **अपने अस्तित्व** की **सूचना** दी। **'अपर'** के दो अर्थ हैं— **१ दूसरा** और **२ वही। निशुम्भ** से जो **पुरुष** निकला, वह था तो **वही** अर्थात् **स्वयं**, पर **स्थूल दृष्टि** से देखने से था **दूसरा। ज्ञान** से **'ममता'** नष्ट होती है, परन्तु **बीज** रह ही जाता है। यह **बीज असि-प्रक्रिया** के द्वारा नष्ट होता है। **सिर** व **मस्तक** से **मूल** या **भाण्डार** का बोध है। इस **मूल** को **महा-ज्ञान-रूपी असि** से काटना है।

अब **शुम्भ** या **'अस्मिता'-भाव** बचता है। यह **परिशुद्ध** है क्योंकि इसके **परिग्रह-भाव, स्तब्धता-भाव, दर्प, काम** और **ममता**— सभी नष्ट हो चुके हैं। फिर भी अर्थात् **निर्बल होकर भी** यह **अस्मिता** रहती ही है। उक्ति है कि **निशुम्भ— शुम्भ का प्राण-समान** अर्थात् अस्तित्व व्यक्त करनेवाला था। **भ्राता** का भी अर्थ यहाँ **दीप्ति** वा **व्यक्ति-कारक** है। यह भी नष्ट हो जाता है अर्थात् **मेरा कोई या कुछ नहीं।** फिर भी यह **अकेले** अपना ही **अस्तित्व** रखना चाहता है। तात्पर्य है कि **अस्मिता-भाव** परम **दुर्जय** है। विशेष कर जब तक यह **अपरा चेतना-शक्तियों** को देखता रहता है, इसकी **द्वैत-प्रतीति** नहीं जाती। इसी से **शुम्भ** ने **भगवती चण्डिका** से कहा— **'तुम व्यर्थ का गर्व करती हो। दूसरों की सहायता से ही तुमने अब तक विजय पाई है।'**

इस **द्वैत-प्रतीति** के **लय** के लिए **भगवती** जवाब देती है— **'मैं तो हूँ अकेली। दूसरा कौन है? ये मेरी विभूतियाँ हैं, जो मुझसे निकली हैं और फिर मुझमें ही लीन होंगी।'**

माँ का यह **अन्तिम उपदेश** केवल **मौखिक** नहीं है। इसको वह शुम्भ-सदृश **भाग्य-शाली कृतोपासकों** को **व्यवहार-रूप** में भी दिखाती है। अब जिस तरह **शुम्भ** वा **अस्मिता अकेले** है, वैसे ही **भगवती** भी अपनी सब **विभूतियों** को समेट **अकेली** रह जाती है। इसी अवस्था में **आत्म-लय** का **अन्तिम साधन** किया जाता है।

अब **शुम्भ माँ से लड़ता है** अर्थात् **आत्म-लय** या **अस्मिता-लय की साधना** पूर्णतः **स्थिर-चित्त** हो करता है। जैसा कि **भगवती** का आदेश है—**'आजौ स्थिर भव'।** इससे **'ज्ञान-योग'** में **मन** की, **'क्रिया-योग'** में **प्राण** की और **'भक्ति-योग'** में अव्यभिचारिणी **भक्ति** की स्थिरता का बोध है। **'आजौ'** के दो अर्थ हैं— **१ युद्ध** में, **२ यातायात** या **गमना-गमन** में। इससे **मन** और **प्राण** के **आवागमन** का तात्पर्य है। कोई भी **साधन** बिना **स्थिर-चित्त** और **स्थिर-प्राण** के असम्भव है।

यह **युद्ध** महा-दारुण ही नहीं, **'सर्व-लोक-भयङ्कर'** हुआ। यहाँ **'लोक'** का अर्थ है **दर्शन,** अतः **त्रिलोक** से **ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय त्रिपुटी** या **त्रिपुरी** का तात्पर्य है, जिसके **लयार्थ** जो **समर** है, वह यथार्थतः महा-भयङ्कर होता है क्योंकि यह **समर** केवल **ज्ञाता** या **साधक** के **लयार्थ** नहीं है, **ज्ञान** या **साधन** और **ज्ञेय** या **साध्य** का भी **लय** करने का यह **समर** है। यही सर्व-श्रेष्ठ आवेदन **योग** या **असम्प्रज्ञात** या **निर्विकल्प समाधि** का **साधन** है। **'समाधि'** किसी भी प्रकार की हो, इसमें **प्राण-संयम** बड़ा भयङ्कर होता ही है। इसलिए कि **प्राणायाम-प्रक्रिया** में **प्राणों की**

'बाजी' लगानी पड़ती है। वर्तमान शरीर को त्याग कर कहाँ कैसे जाएँगे और फिर किस रूप में परिणत होंगे? तत्-सदृश ही हम **अनाख्यावस्था** में जाने से डरते हैं। यही **महा-भय है।** तात्पर्य कि शरीर में— वर्तमान शरीर में रहकर भी क्या-से-क्या हो जाएँगे, यह हम किसी तरह से भी नहीं जान सकते और न कोई कह ही सकता है।

शुम्भ या **द्वैत-भावापन्न** उत्तम **साधक** द्वैत-भाव-रूपक **शर-राशि** का प्रयोग करता है अर्थात् **अद्वैत-भाव** से **द्वैत-भाव** का सन्तुलन करता है कि कौन श्रेष्ठ है। **शुम्भ** के **शरों** अर्थात् **द्वैत-सिद्धान्त की युक्तियों** को **भगवती विमर्श-शक्ति** अपने **'इषुओं'** से काट देती है। **'इषु'**-पद का **'ज्ञान-योग'** में **दर्शन** या **ज्ञान-परक** अर्थ है और **'क्रिया-योग'** में **गति-परक।** फिर **शुम्भ 'शक्ति'** अर्थात् **अपराद्वैत-ज्ञान** का प्रयोग करता है, जिसका निरास, **भगवती** करती है— **'सुदर्शन चक्र'** अर्थात् यथार्थ **अद्वैत-ज्ञान** से। तब **शुम्भ 'असि'** या **अद्वैत-सिद्धान्त-खण्डक युक्ति** का विचार करता है। यह **'असि'** विपर्यय-ज्ञान वा **विक्षेप है,** जो दूर होता **है शर** या **ॐ-कार** के प्रयोग से। **ढाल** और **तलवार से अविद्या के आवरण** और **विक्षेप — कला-द्वय** का बोध **है।**

'अश्व', 'रथ', 'सारथी' और सभी अस्त्र-शस्त्रों **के नष्ट होने** पर वह **'मुद्गर'** ले देवी की ओर दौड़ता है। **'मुद्'** अर्थात् **'अस्मिता'-भाव** के आनन्द को निगल हठी होना। सभी साधनों के नष्ट होने पर भी **'शुम्भ'** अद्वैत-प्रतीति को स्वीकार न कर हठी हो जाता है। यह एक प्रकार की **'विमुग्धावस्था'** है, जो **'सत्त्व'-गुणापन्न श्रेष्ठ साधक** में भी प्रायः देखी जाती है। **भक्त-योगियों** में यह प्रत्यय प्रबल है। वे अपने इष्ट के नाम-रूप को किसी भी अवस्था में परित्याग कर रूप-नामातीत नहीं होना चाहते। यही है— **'अनुराग-जन्य आग्रह-रूप मुद्गर',** जो गुणातीतावस्था का विरोधी साधन है। करुणा-मयी माँ भक्त को अपने में मिला लेने के लिए यथार्थ विशेष ज्ञान देती है, जिससे **'शुम्भ' का हठ** दूर हो।

'मुद्गर' के पश्चात् **'शुम्भ'** भगवती पर **'मुष्टि'-प्रहार** करता है। असंख्य जन्मार्जित **'अस्मिता-भाव'** के बीज का द्योतक है- **'मुष्टि'।** 'सांख्य-दर्शन' में यह **'प्रकृति या जीव-धर्म'** कहा जाता है। जब से **जीव** में चेतना जाग्रत हुई कि **'मैं हूँ',** तब से आज तक यह बीज रहा है। इस **बीज** का नाश अपनी ही प्रति-क्रिया से होता है। प्रति-क्रिया का द्योतक है— तल-प्रहार। जब अपनी **हृदय-वासिनी भगवती** अर्थात् एकता-सिद्धान्त पर **'मुष्टि-प्रहार'** कर उस अद्वैत-सिद्धान्त का निरास करना चाहता है, तभी यह प्रति-क्रिया होती है। यही **भगवती विमर्श-शक्ति का तल-प्रहार** है।

इस प्रति-क्रिया को इस दृष्टान्त से समझ सकते हैं कि हम किसी विषय या वस्तु को भूलने की जितनी ही चेष्टा करें, उतना ही वह याद आता है। यदि कोई कहे कि खाते समय कौए का स्मरण न हो, तो अमुक लाभ होगा। हमारे लाख प्रयत्न करने पर भी कौए की स्मृति आएगी ही। कारण **'विस्मरण'** की **प्रतिक्रिया** है— **'स्मरण'।**

'उरसि' से तात्पर्य है— **'हृदय-कमल'** अर्थात् **'अनाहत-चक्र'** का। साधक **'ब्रह्म-ग्रन्थि का**

भेदन' कर प्राण-शक्ति को **'मणिपुर'** में लाया। फिर **'विष्णु-ग्रन्थि'** को भेद कर **'अनाहत'** में लाया। अब इस तीसरे साधन से **'रुद्र-ग्रन्थि का भेदन'** करना चाहता है। ऊपर उठने के लिए धक्के देना है — **'तल-प्रहार'**। इस प्रक्रिया से साधक को क्षणिक बेहोशी आती है। तात्पर्य कि **साधक की प्राण-शक्ति** तुरन्त ऊपर नहीं उठ सकती है। बल-सञ्चय करने के लिए इसे रुकना पड़ता है।

'पृथ्वी'-तल है— **'मूलाधार-चक्र'** और **'मही'**-तल है— **'अनाहत'**। **'महर्लोक'** है— **'मही-तल'**। प्राथमिक साधकों में जो चक्र **'मूलाधार'** है, वह **'ब्रह्म-ग्रन्थि'** भेद होने पर उस साधक का **'मूलाधार'** नहीं कहा जा सकता। उसका **मूलाधार** होता है— **'मणिपुर'**। **'विष्णु-ग्रन्थि-भेदन'** होने पर **'अनाहत' मूलाधार** हो जाता है। अतः **'विष्णु-ग्रन्थि-भेदक' शुम्भ साधक का मूलाधार 'अनाहत चक्र'** है। यहीं से ऊपर उठ वह **'रुद्र-ग्रन्थि के भेदन'** का प्रयत्न करता है। **'शुम्भ'** इसी **'अनाहत चक्र'** की भित्ति पर गिरता है।

'तल-प्रहार' से **'शुम्भ'** गिरता क्यों है? बात यह है कि अविराम **आरोहण** से **प्राण-शक्ति** की हानि की आशङ्का होने से **'क्रिया-योग'** में निरन्तर **आरोहण** मना है। **'ज्ञान-योग'** में भी अविराम **आरोहण** (ऊर्ध्व-भूमिका पर) निषिद्ध है।

अब **शुम्भ** माँ को पकड़ कर **गगन** अर्थात् गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है, परन्तु एकबारगी वहाँ पहुँचा नहीं जा सकता। इसी से उक्ति है कि **'शुम्भ'** पटक दिया गया। **गगन** का अर्थ आकाश या शून्य मानें, तो भी अयुक्त नहीं है। **आकाश** पर पहुँचने से **'इष्ट-सिद्धि'** नहीं होती क्योंकि आकाश है — **'गुणी'**। **'गुणी'**-पद पर **गुणातीत** नहीं हो सकता। अतः अब **निराधार** अर्थात् **द्वैत, अद्वैत** आदि किसी भाव के आधार पर युद्ध या **साधन** नहीं होता। यही है— वेदान्तोक्त— **'अन्त्यन्ताभावावस्था'**। यही है तन्त्रोक्त — **'निरालम्ब-पुरी'**। यह **'कादि-विद्या'** (काली-क्रम) की एक विशिष्ट बात है। इसका निर्दिष्ट स्थान **'सोम-चक्र'** से ऊपर है, जो **'आज्ञा-चक्र'** के ऊर्ध्व **'मानस-चक्र'** से ऊपर कहा गया है।

साधक! एक बार तुम भी **माँ को पकड़ने का प्रयत्न** करो, जैसे **'शुम्भ'** ने पकड़ा था। पकड़ते ही तुम माँ के सङ्ग अर्थात् **'अद्वैत-भावापन्न'** हो **गगन** अर्थात् **शून्य** में चले जाओगे, जहाँ न **'इदन्ता-भाव'** रहेगा— न **'अहन्ता'**। तुम अपने आपको भूल जाओगे। वहीं तुम्हारी **व्यवसायात्मिका बुद्धि की परिणति अव्यवसायात्मिका रूप में** हो जाएगी। मूल वस्तु है— **'मां को पकड़ना और चिपटे रहना।'** यही है **'भक्ति-योग-क्रम' का आत्म-निवेदन,** परन्तु यह पकड़ आदि में क्षणिक ही रहेगी। पर्याप्त अभ्यास करने से यह स्थायी हो जाएगी।

इस **आकाश-युद्ध** से **'शब्द-ब्रह्म के अनुसन्धान'** के साधन का बोध है। **'शब्द-ब्रह्म'** का ज्ञान होने पर ही **'पर-ब्रह्म का ज्ञान'** सम्भव है। **'शब्द-ब्रह्म'** का ज्ञान होता है— **'शब्दानुविद्ध समाधि'** में। यही है **'निर्विकल्प समाधि'** की अव्यवहित पूर्वावस्था। **बाहु-युद्ध** से **'कुम्भक-प्रक्रिया'** का बोध है। **'ज्ञान-योग'** में **विद्या** और **अविद्या** के **बलाबल-परीक्षा** का और **'भक्ति-योग'** में

आत्म-निवेदन, विश्वास और अविश्वास में संघर्ष का यह **बाहु-युद्ध** परिचायक है। इस युद्ध में **मुनियों** अर्थात् **मनन-शील** मात्र लोगों का, जो **ब्रह्म-विद्या-पारङ्गत** नहीं हैं, विस्मित होना उचित है। **विस्मित** के दो अर्थ हैं— **१ आश्चर्यान्वित** और **२ विशेष प्रकार से स्मित** अर्थात् आनन्दित। यहाँ दोनों अर्थ युक्त हैं।

'शुम्भ' दुबारा गिरता है— **'धरणी-तल'** पर। **'ज्ञान-योग'** में **धरणी** से **विश्व-ज्ञान** को धरनेवाली का और **'क्रिया-योग'** में **'आज्ञा-चक्र'** का तात्पर्य है। अतः **'शुम्भ'** की **प्राण** या **ज्ञान-शक्ति** के **मानस-चक्र** पर **अवरोहण** से यहाँ बोध है।

'शुम्भ' फिर भी मुट्ठी बाँध माँ से सङ्घर्ष करता है। ठीक है, **हठ** अर्थात् **अस्मिता** का संस्कार अभी तक है ही, जो करोड़ों जन्मों से पोषित होता आया है। फिर वह **माँ चण्डी** के निधनार्थ वेग से दौड़ा। इसका तात्पर्य है— **अपरिच्छिन्न प्रकाश** को अपनी **इदन्ता** में ले आने से।

उक्ति है कि **'शुम्भ'** के वक्षः-स्थल को **शूल** से विदीर्ण कर **माँ** ने उसे **जगती-तल** पर गिरा दिया। **'अस्मिता' या 'अहन्ता' का परिवर्तन वा परिणति** इसी प्रकार होती है। **'व्यक्ति-गत अहन्ता'** के **लय** के बाद उसकी परिणति **'समष्टि-गत अहन्ता'** या **'परा-हन्ता'** में होती है, जिसमें **'इदन्ता'** का लेश मात्र भाव नहीं रह जाता। अथवा **'अहन्ता'** का लय है— **'इदन्ता'** का लय। **'शुम्भ'** के **'इदन्ता'-भाव** का लय है— **'शुम्भ-वध'**। **'शुम्भ'** का वक्षः-स्थल विदीर्ण क्यों हुआ, उसकी बुद्धि ही विदीर्ण हुई। यह बुद्धि है— **'आत्म-बुद्धि'**, जो नष्ट होकर बुद्धि से मिल गई। यही है **'अवेदनावस्था या असम्प्रज्ञात-समाधि'** की अवस्था। **निवृत्ति-क्रिया** होती है— **'जगती-तल'** अर्थात् जगत् या चलायमान या व्यवसायात्मक तल अर्थात् क्षेत्र पर। इस पर **'शुम्भ'** की आत्मा नहीं गिरती, गिरता है इसका शरीर या **कोश।** यहाँ **कोश** से चतुर्थ अर्थात् **'विज्ञान-मय कोश'** का बोध है। **विज्ञान** के लय होने पर सर्व-श्रेष्ठ आवेदन **योग** की अवस्था आती है। यही है— **आनन्द-मयी** को पाकर **आनन्द-मय** हो जाना।

अब **'शुम्भ'— 'गतासुः'** हो जाता है। **'असुः'** का अर्थ यदि **प्राण** लें, तो वह **प्राण** से, जो **कुर्वद-रूप** है, रहित हो जाता है। तात्पर्य कि **निष्क्रियावस्था** में आ जाता है। यदि **'असुः'** का अर्थ **प्रतिबिम्ब** लें, तो वह **प्रतिबिम्ब-रहित** अर्थात् **राज** (प्रकाश) से रहित हो गया। तात्पर्य कि **प्रतिबिम्ब** अर्थात् **द्वैत-प्रतीति** से रहित हो **'अद्वैत-प्रतीतिवान्'** हो गया। इसी को **'लय-योगी'** कहते हैं।

यहाँ **'उर्वी-तल'** पर गिरने की उक्ति है। **'उर्वी'-पद श्रेष्ठ-वाचक है।** अतः वह **श्रेष्ठ** या परम-पद को गया।

'शुम्भ' के गिरने अर्थात् ऊपर उठ जाने से **'पर्वत'** (केन्द्र या चक्र), **'समुद्र'** (सप्त-धातु) एवं **'द्वीप - समूह'** (कोष)-सहित पृथ्वी काँप उठी। **स्पन्दन** और **कम्पन** एक ही वस्तु है, जो **'प्राण-शक्ति'** के **गति-वेग** के कारण होता है। यह वह अन्तिम **'महा-स्पन्दन'** है, जिसके पश्चात् **'अस्पन्दावस्था'** आती है। तब **जगत्** अर्थात् **व्यष्टि-जगत्** में **व्यष्टि-भाव-क्रम** में और

समष्टि-जगत् में **समष्टि-भाव-क्रम** में **'परमानन्दावस्था'** आ जाती है, **नभ** या **दहराकाश** पूर्ण निर्मल हो जाता है। **'अस्मिता'** अन्तिम **मल** है। यह **मल** **'सदाशिव'**-पर्यन्त में है। इस **निर्मलता** से पूर्ण गुणातीत **'पर-शिवत्व की प्राप्ति'** का बोध है।

जगत् अर्थात् **जीव** **'स्वस्थ'** (आत्म-स्थित) हो जाता है। उल्का-सम्पन्न **'मेघ-गण'** (सिञ्चन करनेवाले) **'शान्त'** (शीतल) हो गए और **'नदियाँ'** (शरीर-स्थित नाड़ियाँ) **स्व-मार्ग-गामिनी** अर्थात् **संशोधित** हो चलने लगीं। **'देव-गण'** अर्थात् **'चेतना-राशि'** **प्रफुल्लित** हो उठी। **'गन्धर्व'** अर्थात् **नाद-कारक वर्ग** (विशिष्ट चेतना-शक्तियाँ) सुन्दर **नाद** करने लगे। **'अप्सराएँ'** नाचने लगीं अर्थात् **ब्रह्मानन्द-रस** की तरङ्गें किलोलें मारने लगीं। **'दिवा'** अर्थात् **ज्ञान-कर** या **बुद्धि** आवरण-रहित हो **सु-प्रभ** अर्थात् सुन्दर प्रकाश या **ज्ञानवाली** हो गई। **'वायु'** अर्थात् **प्राण-गण** पुण्य या पुनीत हो **बहने** अर्थात् **कर्म करने लगे। 'अग्नि'** अर्थात् **प्राणाग्नि** और **ज्ञानाग्नि** शान्ति-पूर्वक अपने-अपने कर्मों का सम्पादन करने लगीं। **दिग्-जनित गूँजें** अर्थात् **परिछिन्नता-जन्य प्रतिध्वनि** अर्थात् **अहं-बोधक ध्वनि** बन्द हो गई। **'अस्मिता'** के लक्ष्य होने पर **आत्मा में शब्दानुबिद्धता** का लय हो ही जाता है।

इस प्रकार **'गुरु मेधस'** ने **देवी** (विज्ञान-ब्रह्म या प्रकाश-शक्ति) का माहात्म्य प्रकृत शिष्य-वाच्य **सुरथ** को सुनाया और **देवी के प्रत्यक्ष दर्शन की प्राप्ति-निमित्त क्रियात्मक शिक्षण** भी दिया। तात्पर्य कि **'मनन'** और **'निदिध्यास'** के लिए **'श्रवण'** करा उनकी विधियाँ भी बताईं। ऐसा ही श्रौत निर्देश है।

'सुरथ' यथार्थ में शिष्य थे। उन्हें **गुरु-वाक्य** में पूरी **श्रद्धा** थी और अपने को **शास्त्र के अनुशासन** में रखने की क्षमता थी। इसी से **'गुरु'** के **उपदेश** के अनुसार **नदी के पुलिन** अर्थात् निरन्तर-वाहिनी **'सुषुम्ना'-नाड़ी** के तट पर **साधन** किया। **'ज्ञान-योग'** में **नदी** से **'ज्ञान'-नदी** का बोध है, जिसमें निरन्तर **'अहं ब्रह्मास्मि'**, **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** आदि महा-वाक्यों की धारा बहती रहती है। **'भक्ति-योग'** में यह है— **'प्रेम-नदी'**।

इसी नदी के तट पर **अम्बा के 'सन्दर्शनार्थ'** अर्थात् **प्रत्यक्ष अनुभूति** के निमित्त निरन्तर **तीन वर्ष** (एक वर्ष **प्राथमिक 'प्राणायाम'** में, दूसरा **मध्यम प्रकार के 'प्राण-संयम'** में और तीसरा वर्ष **'उत्तम प्राणायाम'** में अथवा **'अनाहत'** या **'हृदय'**, **'आज्ञा-चक्र या मानस'** और **'सहस्रार या ब्रह्म-रन्ध्र'**— इन तीन स्थानों में ध्यान लगाया।) **'निराहार यताहार'** (आहार है **प्राण-वायु** का)। इसे **खाकर** अर्थात् **श्वास लेते हुए** भी और **श्वास नहीं भी लेते हुए)** रहे। **'अम्बा की मृण्मयी मूर्त्ति'** (प्रतीकालम्बोपासना, जो साधन के आदि व मध्यमावस्था में भी आवश्यक है) बना **'पुष्प'** (चित्त-वृत्तियाँ), **'धूप' से अग्नि का तर्पण** (ज्ञानाग्नि में विषय-वृत्तियों की आहुति) और **'निज-गात्र' के रक्त की बलि** अर्पण कर साधना की। ऐसी ही साधना से **भगवती चण्डी या प्राण महा-शक्ति या महा-चित्ति** प्रत्यक्ष होती हैं।

यही है— **श्रीदुर्गा माँ की माहात्म्य-गाथा का रहस्य,** जो केवल पढ़ने (श्रवण) की ही वस्तु नहीं, **अपितु** मनन करने की और सद्-गुरु से सीखकर साधन करने की वस्तु है।

श्रीदुर्गा-सप्तशती सम्बन्धी उपयोगी पुस्तकें

१.	मन्त्रात्मक सप्तशती	६५०/-
२.	सार्थ चण्डी (श्रीदुर्गा-सप्तशती)	४००/-
३.	अद्भुत दुर्गा-सप्तशती	१५०/-
४.	हवनात्मक दुर्गा-सप्तशती	१२५/-
५.	बीज-नाम-मन्त्रात्मक दुर्गा-सप्तशती	२५/-
६.	विशुद्ध चण्डी (श्रीदुर्गा-सप्तशती)	४०/-
७.	श्रीरुद्र-चण्डी	१०/-
८.	श्रीलघु चण्डी	२०/-
९.	श्रीललिता-सप्तशती	५०/-
१०.	सम्पुटित सप्तशती	४०/-
११.	सप्त-दिवसीय सप्तशती	४०/-
१२.	सप्तशती के विविध प्रकार	२५/-
१३.	रात्रि-सूक्त	१५/-
१४.	शक्रादि-स्तुति	२५/-
१५.	देवी-सूक्त	४०/-
१६.	श्रीनारायणी-स्तुति	४०/-
१७.	बीजात्मक श्रीदुर्गा-सप्तशती	०८/-

सम्पर्क हेतु पता

श्रीचण्डी-धाम, कल्याण मन्दिर प्रकाशन

अलोपी-देवी मार्ग, प्रयाग-२११००६

दूरभाष : ०५३२-२५०२७८३

मोबाइल : ०९४५०२२२७६७

‘मेधस ऋषि’ द्वारा ‘सुरथ’ और ‘समाधि’ को वर्णित

‘श्रीदुर्गा-सप्तशती’ के पाठ के विविध लक्ष्य

स्थूल कथा-लक्ष्य

यह साधारण ‘पाठ’ रूप से प्राप्त होता है।

तान्त्रिक-लक्ष्य

इसमें श्लोक को बीज-मन्त्र-सहित जपा जाता है।

यौगिक लक्ष्य

इसमें श्लोक को ‘षट्-दल-चक्र’ में ‘जप’ किया जाता है।

अन्तर्लक्ष्य

इसमें प्रत्येक श्लोक का आन्तरिक भाव से पाठ किया जाता है।
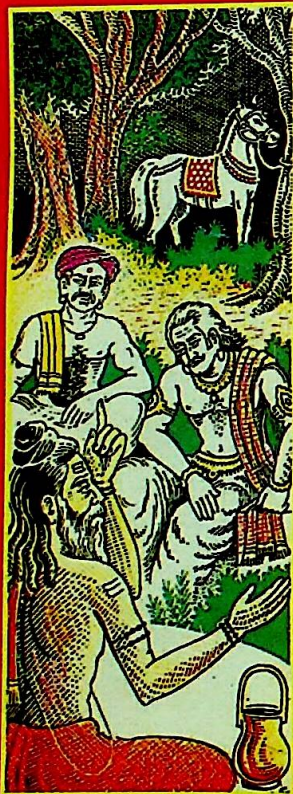
मँगाने के लिए सम्पर्क करें :
श्री चण्डी-धाम, कल्याण मन्दिर प्रकाशन
अलोपी-देवी मार्ग, प्रयाग-२११००६
दूरभाष : ०५३२-२५०२७८३, ०९४५०२२२७६५